वज्रदन्त चक्रवर्ती
बारहमासा
(अर्थ एवं चित्रावली सहित)

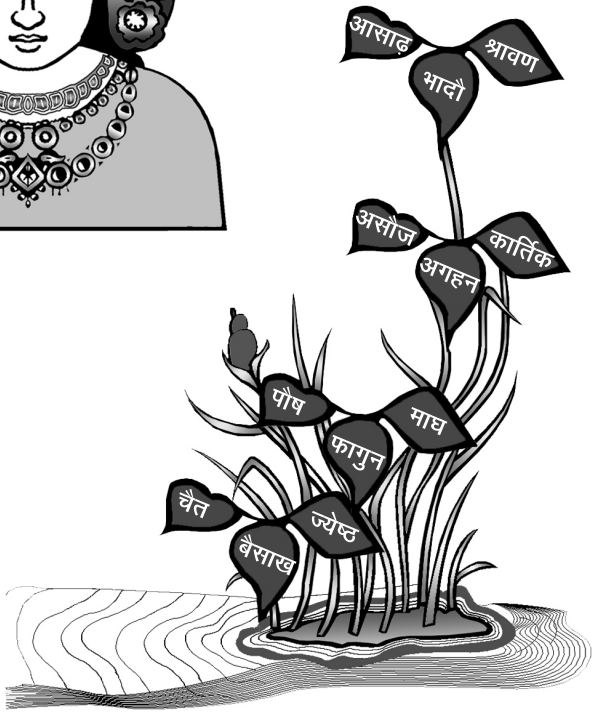

रचयिता
यति नैनसुखदास जी

यह आवृत्ति- ७०० प्रतियाँ

प्राप्ति स्थानः-

श्रीमती पूनम जैन
११ नं०, दरियागंज, मित्रा भवन,
नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : **011-23273510**
9268336159

श्रीमान् रोहित जैन
४२३४/१, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : **9811182884**

सम्पादिका द्वय-

बाल ब्र० कु० कुन्दलता जैन (एम० ए०, एल० एल० बी०)
एवं
बाल ब्र० कु० आभा जैन (एम० एस० सी०, बी० एड०)

न्यौछावर राशि- ३१/-
लागत राशि - २५१/.

मद्रक : रुपक प्रिन्टर्स, दिल्ली-32, दूरभाष- 9811519005, e-mail : rajesh_roopak@yahoo.co.in

अनुक्रम

क्र० सं०	विषय	पृष्ठ
१.	आमुख	३-४
२.	श्रद्धा सुमनार्पण	५
३.	लेख तेरा तुझको अर्पित	६-१३
४.	आत्म सम्बोधन लेख (हे आत्मन्! अब तो तू चेत)	१४
५.	बारहमासे का सार	१५-१७
६.	बारहमासा संवाद	१६-३५
७.	बारहमासा चित्रावली	३७-११५

आइये,
हम सब भी इस
बारहमासे का मनन कर
वैराग्य अर्जित करके जैनेश्वरी दीक्षा
अंगीकार करें और सिद्धशिला
पर पहुंचकर शाश्वत सुख
निद्रा में लीन हो
जाएं

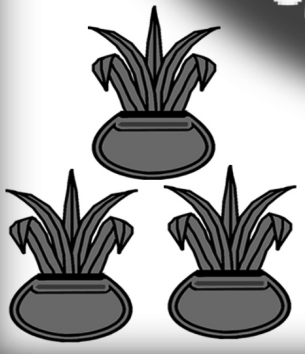

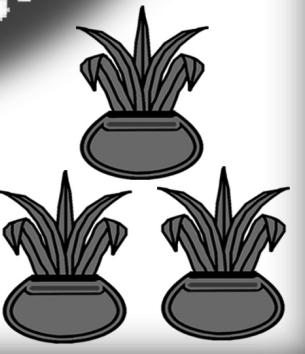

प्रथम आवृत्ति–७०० प्रतियाँ –(१६ जून २०१० श्रुत पंचमी के अवसर पर)
द्वितीय आवृत्ति–१००० प्रतियाँ –(१६ अप्रैल २०११ महावीर जयन्ती के अवसर पर)

प्राप्ति स्थानः-

श्रीमती पूनम जैन
११ नं०, दरियागंज, मित्रा भवन,
नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : **011-23273510**
9268336159

श्रीमान् रोहित जैन
४२३४/१, अंसारी रोड,दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२
दूरभाष : **9811182884**

सम्पादिका द्वय-

बाल ब्र० कु० कुन्दलता जैन (एम० ए० एल० एल० बी०)
एवं
बाल ब्र० कु० आभा जैन (एम० एस० सी० बी०एड०)

न्यौछावर राशि- ७५/-
लागत राशि - ३०१/-

अनुक्रम

क्र० सं०	विषय	पृष्ठ
१.	आमुख	३-४
२.	श्रद्धा सुमनार्पण	५
३.	लेख तेरा तुझको अर्पित	६-१३
४.	आत्म सम्बोधन लेख (हे आत्मन्! अब तो तू चेत)	१४
५.	बारहमासे का सार	१५-१७
६.	बारहमासा संवाद	१६-३५
७.	बारहमासा चित्रावली	३७-११५

आमुख (प्रथम संस्करण)

वज्रदन्त चक्रवर्ती के अत्यन्त वैराग्यपूर्ण एवं सुन्दर इस बारहमासे को आदरणीया अम्मां जी श्रीमती प्रेमलता जी जैन की स्मृति में समाज को समर्पित करते हुए अति हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। कुछ वर्ष पूर्व भी अनन्त चतुर्दशी के अवसर पर चित्र रहित इस बारहमासे का एक संक्षिप्त सा संस्करण प्रस्तुत किया था। इसके रचियता कवि नैनसुखदास जी अपने विरक्तिपूर्ण हृदय के कारण 'यति' की उपाधि से विभूषित थे।

गत कई वर्षों से अष्टपाहुड़ जी आदि तीन-चार ग्रन्थों व उनके चित्रों पर सम्पादन कार्य चालू था। 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' के बाद अब इसका और फिर अष्टपाहुड़ जी का नम्बर हैं, श्रीमान् विपिन कुमार जैन, श्रीमान् विजेन्द्र जैन (ज्वैलर्स) और श्रीमती चित्रा जैन एवं अन्य भी जिन-जिन बहिन भाईयों ने अपने तन-मन-धन से 'उपदेशसिद्धान्त रत्नमाला', 'अष्ट पाहुड़ जी' ग्रन्थों के प्रकाशन में तो योगदान दिया ही परन्तु बारहमासा के प्रकाशन में भी काफी सहयोग दिया है उनका हृदय से आभार मानते हैं। रोहित भाई की मार्फत भी अन्य जो महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ वह भी अभिनन्दनीय है।

यह तो सबको विदित ही है कि चित्रों युक्त सारा कलात्मक कार्य कितना दुस्साध्य होता है और हमें बहुत ही ज्यादा उमंग व उल्लास था सजीव चित्रण प्रस्तुत करने का क्योंकि आजकल हम अल्पबुद्धि जीव चित्रों के माध्यम से शास्त्र की बात जल्दी समझ लेते हैं अतः 'उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला', 'बारहमासा' एवं 'अष्टपाहुड' जी

आदि सभी ग्रन्थों में चित्र देने का भाव बना और बहुत-बहुत पुरुषार्थ उसके लिए चलकर काफी लम्बा समय निकल गया।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त हमारे पास पशु पक्षियों के माध्यम से बच्चों के लिए उपदेशप्रद एक छोटी पुस्तक एवं कुछ रंगीन सुन्दर-सुन्दर पोस्टर्स भी तैयार हैं। इस बारहमासे के चित्रों को रंगीन करने का भी कार्य एक बार प्रारम्भ किया था जो शायद आगामी किसी संस्करण में पूर्ण होकर निकल सके। यह सारी सामग्री और अन्य भी कुछ कलात्मक सामग्री हमारे पास कम्प्यूटर में सुरक्षित है किसी भी जिज्ञासु को प्रकाशित करानी हो या अन्य कहीं प्रचार-प्रसार के कार्य में उसका प्रयोग करना हो तो हमसे ले सकते हैं।

बनारसी दास जी के 'समयसार नाटक' के समान यह बारहमासा घर-घर में गाया जाकर जन-जन की वस्तु बने और सब लोग इसे बार-बार प्रकाशित करके सर्वत्र वितरित करें-ऐसी पुनीत भावना है। व्रत उद्यापन, जन्मदिन या विवाह आदि के शुभ अवसरों पर भी यह हमसे लेकर या प्रकाशित करवाकर भेंट स्वरूप दिया जा सकता है।

इत्यलं

कु0 कुन्दलता जैन एवं आभा जैन

लीजीए अब आपके कर कमलों में समर्पित है यह द्वितीय संस्करण जो कि समाज की अतिशय मांग पर अतिशीघ्र ही प्रकाशित किया जा रहा है। गत संस्करण को प्रकाशित हुए अभी 8-10 माह ही हुए थे कि वह समाप्त हो गया। यह प्रकाशन दरियागंज जैन समाज कि ओर से है जो साधुवाद का पात्र है।

कुन्द एवं आभा

इन श्रद्धा सुमनों का

बिखराव

है

आ0 अम्मा जी प्रेमलता जी (बेला बहन) के लिये

शुद्धात्मरसास्वादी एवं प्राणिमात्र की हितचिन्तक वे ऐसी वात्सल्यमूर्ति माां थीं जिन्होंने आत्मा में से मिथ्यात्व की जड़ों को हिला देने वाली परमादरणीय श्री बाबूलाल जी की ही सशक्त वाणी को कर्णगत करके अपना मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया था । उनकी पुण्य स्मृति को हृदय में संजोए हुए मोक्षाभिलाषी भव्यों को आत्म कल्याण की प्रेरणा देता हुआ उनका ही यह लेख श्रद्धांजलि रूप में उन्हें समर्पित करते हैं

जिसका शीर्षक है

'तेरा तुझको अर्पित'

तेरा तुझको अर्पित

हे भव्यों ! संसार बंधन तोड़कर धर्म मार्ग पर चलो। आत्मज्ञान प्राप्त किए बिना तो धर्म की शुरुआत ही नहीं होती और इस भयंकर संसार की कट्टी हो ही नहीं सकती। अरे भाई ! संसार में तो दुःख ही दुःख हैं, सुख कहीं भी है ही नहीं। यह संसार महा दुःखों का सागर है, इसमें दुःख तो क्यू लगाए खड़े हैं, न जाने कब कौन सा कर्म उदय में आ जाए और सिर पर दुःखों का पहाड़ टूट जाए और सुख का भंडार मेरी आत्मा है, अपनी आत्मा में इतना आनन्द है, इतनी शान्ति है, इतनी निराकुलता है कि बताना असंभव है। कहाँ संसार के चक्रव्यूह में फँसे हो और अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी मार रहे हो। यह मनुष्य भव भागा जा रहा है फिर हाथ नहीं आएगा। सम्यक्त्व प्राप्ति के सारे ही तो साधन मिले हैं, यदि

ऐसा मौका मिलने पर भी तत्त्वज्ञान न हुआ, मोक्षमार्ग न बना तो अनन्त धिक्कार है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, आत्मदर्शन करना, अपने को देखना कोई मुश्किल काम नहीं है पर भीतर में बहुत ही मनन-चिंतन करके तत्त्व निर्णय करने की व पात्रता बनाने की दरकार है। तत्त्व प्राप्ति का दृढ़ निश्चय हो और भीतर में संसार-शरीर-भोगों का अभिप्राय न रहे। अन्तरंग में से अंहबुद्धि मर जानी चाहिए। पद्रव्यों में से अपनापना बिल्कुल छूट जाना चाहिए। हमारे साथ जितना भी जीव-अजीव समागम है वह सब कर्म का ही है, कर्म की जब मर्जी होगी ले लेगा, उसमें मेरा कुछ भी तो नहीं है, उससे मेरा कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है। मेरा तो एक अनन्त गुणात्मक आत्मा ही अपना है, उसी से मेरा सम्बन्ध है और मेरी आत्मा में ही सुख है। बाहर में सुखबुद्धि एकदम ही उड़ जानी चाहिए। इस घर संसार में कहीं भी सुख है नहीं, यह सिर्फ कहने की, पढ़ने की, सुनने की बात नहीं है, एकदम सत्य बात है। अज्ञानता से हमने झूठे सुख को सुख मान लिया है। अपनी आत्मा के उस अतुल, असीम, अनमोल आनन्द को अपनाकर तो जीव निहाल हो जाता है और भूल जाता है उन सांसारिक सुखों को जिन्हें आज सुख माने बैठा है।

तत्त्वज्ञान के लिए कर्ताबुद्धि का टूटना भी आवश्यक है। कोई भी पद्रव्य मेरा भला-बुरा या मुझे सुखी-दुःखी नहीं कर सकता और मैं किसी का भला-बुरा या उसे सुखी-दुःखी नहीं कर सकता-ऐसा दृढ़ निर्णय होना चाहिए। मैं तो जानने वाला ही हूँ, कुछ भी करने-धरने वाला हूँ ही नहीं। मैं पर के भले-बुरे के या मारने-जिलाने के भाव ही कर सकता हूँ और उन भावों से कर्म का बंधन होता है परंतु पर का भला-बुरा या उसे मार-जिला नहीं सकता। कर्ताबुद्धि तोड़ने के लिए पुण्य-पाप का

दृढ़ श्रद्धान होना चाहिए कि बाहर में सब कुछ मेरे ही कर्म के उदय के अनुसार चलता है। दूसरे यह बात भी अन्दर में जम जानी चाहिए कि जीव स्थिति से नहीं वरन् अपने ही विकल्पों से, कषायों से दुःखी है और कषाय भी कोई दूसरा मुझे नहीं करा सकता, वह मेरी ही असावधानी के कारण होती है, इसमें दूसरे का तो बिल्कुल भी दोष नहीं है, दूसरा तो बाह्य निमित्त मात्र है।

सम्यग्दर्शन के लिए एक बार तो स्वच्छ पानी की तरह भावों में निर्मलता आ जानी चाहिए, अत्यन्त निर्मल परिणाम हुए बिना, संसार-शरीर-भोगों से अरुचि हुए बिना, जोरदारी से बाहर से विरक्ति आए बिना सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। जीवन को स्वाध्यायमय बना लेना। हमारा सारा शुभ-पूजापाठ, जाप, स्वाध्याय आदि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के ही अभिप्राय से हो। शास्त्र पढ़ना, दिन-रात पढ़ना परन्तु सिर्फ आत्म उपलब्धि के लिए; पुण्यबंध की, किसी भी लोभ की, मान बड़ाई की, पंडिताई की, वाद-विवाद की या और कोई दृष्टि नहीं होनी चाहिए। शास्त्र पढ़कर यही खोजो कि आत्मा कैसे मिले। आत्मा की तीव्र भावना आत्मदर्शन की जननी है। यह अन्दर टीस होनी चाहिए, तड़फ होनी चाहिए, दिन-रात चैन नहीं पड़ना चाहिए, खाते-पीते कुछ भी कार्य करते यह धुन चलती ही रहनी चाहिये कि कैसे आत्मदर्शन हो, शीघ्र ही हो। अन्तःकरण में सिर्फ एक ही लगन, एक ही अभिप्राय होना चाहिए और कुछ भी नहीं। आत्मा चाहिए, सिर्फ आत्मा ही चाहिए-एक ही रुचि, एक ही अभिलाषा हो बस। पाप के उदय का भय न हो, चाहे किसी भी सम्बन्धी का मरण हो जाए, धन चला जाए, शरीर बीमार पड़ जाए या कैसा भी कमजोर हो जाए मुझे चिन्ता नहीं, परवाह नहीं। ऐसे ही मुझे पुण्य के फल की

भी लालसा नहीं। नहीं चाहिए धन-वैभव, नहीं चाहिए मान-सम्मान, नहीं चाहिए शरीर, नहीं चाहिए मकानादि-इनको रहना हो रहें, न रहना हो न रहें, मुझे तो सिर्फ आत्मा ही चाहिए। मात्र आत्मा के ही प्रति आदर भाव और उसी की ही महिमा होनी चाहिए। आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में बस आत्म-अनुभवन की ही तीव्र भावना हो, एक पागलपना सा ही हो जाए, हरदम आत्मदर्शन की ही इंतजार हो। मैं आत्मा अनन्त गुणों का भण्डार हूँ, अपने आनन्द और सुख से भरपूर हूँ, मेरे में कुछ भी तो कमी नहीं। मुझे कुछ भी तो नहीं चाहिए। फिर मैं इन संसारी तुच्छ वस्तुओं पर क्यों भरमाता हूँ, क्यों इनकी इच्छा में तड़फता रहता हूँ, क्यों नहीं अपने सुख में निश्चल होता!

बाहरी पदार्थों से तीव्र अरुचि बने, फिर जो आत्मशक्ति इन पर पदार्थों में जा रही थी वही स्वभाव के अनुभव के लिए तड़फने लगेगी। अब बस उपयोग को स्थिर करने का प्रयत्न करना है। हर समय आत्मा की ओर का झुकाव, उसी की याद, उसी का चिंतवन रहे, चारों ओर से शक्ति को समेटकर स्वभाव की ओर झुकावे, बारम्बार ये ही पुरुषार्थ करे।

प्रश्न-पुरुषार्थ तो कर रहे हैं पर सम्यग्दर्शन नहीं हो रहा?

उत्तर-जितना पुरुषार्थ, जितनी रुचि, जितनी लगन चाहिए उतनी अभी नहीं लगी, जितनी शक्ति स्वरूप की ओर झुकनी चाहिए उतनी अभी भी नहीं झुकी, जरूर कहीं दूसरी जगह रुकी है, अटकी है इसलिए ही नहीं हो रहा है। इसकी खोज यदि सच्ची है तो कभी भी निष्फल नहीं जाती, इसका पुरुषार्थ कभी भी बेकार नहीं जाता, आत्मप्रभु को दर्शन देने ही पड़ेंगे।

तीव्र लगन लगाकर एक बार तो संसार की जड़ काट ही दो, एकदम निर्भय, निःशंक व बेधड़क होकर मिथ्यात्व रूपी छींके को काट दो।

उपयोग में स्थिरता का अभ्यास करते-करते शक्ति सिमटने लगेगी, शांति बढ़ती चली आएगी, शास्त्र पढ़ना भी मुश्किल हो जाएगा और किसी दिन अचानक ही उपयोग गहरे में जाकर अपने में ही डूब जाएगा, ऐसा अनुभव होगा कि मैं तो एक स्थिर पदार्थ हूँ, आनन्द का फव्वारा फूट निकलेगा, अपना सुख गुण अनुभव में आने लगेगा, अनन्त आनन्द में डुबकी लग जाएगी, आत्मा के सारे प्रदेशों में आनन्द ही आनन्द समा जाएगा, सिद्धों के असीम और अनन्त आनन्द का नमूना मिल जाएगा, संसार की आकुलता व झुलसन सब ही समाप्त हो जाएगी। श्रद्धा हुंकारा भरेगी कि यही मैं हूँ, ज्ञान कहेगा कि तेरा कार्य हो गया है, सारा जीवन ही बदला हुआ नजर आएगा। शरीर कहाँ है नहीं मालूम, संसार कहाँ है नहीं मालूम, मैं हूँ बस, और सिर्फ एक आनन्द का पिंड हूँ, यही मेरा अस्तित्व है, मेरी मेहनत सफल हो गई है। शान्ति का, हर्ष का पारावार नहीं रहेगा, गद्‌गद् गोते लगने लगेंगे, बारम्बार भीतर ही झुकाव बनने लगेगा, बस फिर क्या है निहाल हो जाओगे, फिर इन विषय भोगों में रस नहीं रह जाएगा, मेरा बाहर में है ही क्या, सब कुछ ही तो मेरा मेरी आत्मा में ही है, शरीर पर जब उपयोग जाएगा तो वह बिल्कुल काठ का पुतला अलग सा दिखाई देगा।

जैसे घड़ा और उसमें भरा हुआ पानी-इस तरह शरीर और आत्मा दो ही दिखाई देंगे, देह से भिन्न वस्त्र की तरह शरीर आत्मा से भिन्न अलग ही नजर आएगा। और जब शरीर से ही मेरा कुछ भी नाता नहीं दिखाई दे रहा तो घर और घरवालों से क्या नाता रहा! दुनिया पहले कुछ और दिखती

थी अब कुछ और दिखने लगेगी, सभी जीव भगवान आत्मा दिखाई देने लगेंगे, जो आनन्द मैंने लिया है, उसी आनन्द के पिंड सब ही दिखाई देने लगेंगे, किसी से भी द्वेषबुद्धि नहीं रहेगी। हरदम सर्वांग में शान्ति का एक अलग ही जोरदार वेदन अनुभवन में आएगा और उसी में से अहंपना उठेगा कि यही मैं हूँ, उसी में सर्वस्व अर्पित हो जाएगा और जीवन ही शान्तिमय होकर रह जाएगा।

कोई भी कषाय वा रागादिक न्यारे ही भासेंगे, क्रोध भिन्न है और मैं भिन्न हूँ-यह खूब अनुभव में आएगा। यह अच्छी तरह से पकड़ में आने लगेगा कि यह जो ध्यान में एकाग्रता है, शांति का वेदन है, अपनी सत्ता का अवलोकन है, शरीर से भिन्न अपना ज्ञान है बस यही मेरी कमाई है, इससे भिन्न जो कुछ भी है चाहे वह शास्त्र पढ़ने का या प्रवचन सुनने का राग ही क्यों न हो, वह सब तो घाटा ही है। यदि अन्दर में दृष्टि दोगे तो सुख वा आनन्द का अथाह समुद्र हिलोरें लेता हुआ दिखाई देगा और उसी समय ही अपनी पर्याय को देखने पर अशान्ति भी दिखाई पड़ेगी, उपयोग रहना तो भीतर ही चाहेगा, चाहे आत्मबल की कमी से रह न पाए।

जिधर उपयोग लगता है-ढलता है, उधर की ही रुचि होती है, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि-यह नियम है। आत्मा की शक्ति तो वह एक ही है और ज्ञानी ने उपयोग को एक बार अन्तर्मुख करके भीतर में अपने शाश्वत निवास का स्थान देख लिया है तो उसकी शक्ति भीतर में ही ढलने में आनन्द पाती है और उसके विषय-भोगों में, कषायों में, मौज-शौकों में अवश्य ही कमी आ जाती है।

ज्ञानी को यह सत्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि भीतर में कोई भी इच्छा या राग पैदा होने पर मैं अपनी उस इच्छा

या राग से दुःखी होता हूँ न कि वस्तु की अप्राप्ति से। यदि वस्तु के बिना मिले ही उस इच्छा को मैं अन्तरंग से तोड़ दूँ तो अभी ही वस्तु के बिना मिले ही सुखी हो जाता हूँ-यह प्रत्यक्ष दिखता है तो सुख-दुःख का सम्बन्ध बाहरी पदार्थों के मिलने-न मिलने से तो है ही नहीं वरन् इच्छा के होने-न होने वा दूसरे शब्दों में राग वा वीतरागता से है-इस सत्य का हर एक जिज्ञासु को भी अन्तरंग में अवश्य ही निर्णय करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि एक पल भी संसार में नहीं रहना चाहता, उसे एक-एक क्षण मोक्ष का इंतजार है, यहाँ उसे रहना पड़ रहा है, वह रह जरूर रहा है परन्तु अन्दर में रो रहा है, तड़फ रहा है, उसे अच्छी तरह से मालूम है कि संसार में तो दुःख ही दुःख है और सुखी होने का उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। हे भगवन्! मुझे ये घरवाले, जेवर, कपड़ा, कुछ भी तो अच्छा नहीं लगता। उसकी बस यही भावना रहती है कि हे भगवन्! मैं घर से निवृत्ति लेकर, मुनि बनकर किसी पहाड़ वा जंगल में जाकर तपस्या करूँ। ज्ञानी संसार बंधन से छूटने के लिए, स्वभाव में ही रहने के लिए हरदम तड़फता रहता है, कब वह शुभ दिन आए कि मैं अपनी आत्मा में ही रहूँ और उसमें ही समा जाऊँ और बाहर बिल्कुल भी निकलूँ ही नहीं, बस मैं और कुछ भी नहीं चाहता। श्रद्धा में तो ज्ञानी झींकता ही रहता है कि हे भगवन्! मेरा आत्मबल कैसे बढ़े! मैं क्या करूँ, कैसे करूँ कि शीघ्र-अति शीघ्र ही सिद्धों की टोली में, अपने वंशजों में जाकर मिल जाऊँ, उनमें मिले बिना उसे चैन पड़ ही नहीं सकती।

हे भव्यों! चेतो, जागो, मौत सिर पर खड़ी है, न जाने कब ले जाएगी और फिर हाथ मलते ही रह जाओगे। बड़े ही पुण्य कर्म के उदय से यह मनुष्य पर्याय तथा उसमें भी उत्तम

जैनधर्म और तत्त्व को समझने की और प्राप्त करने की सद्बुद्धि मिली है और शरीर भी अभी निरोग है तो इतना सुन्दर अवसर हाथ से नहीं खोना चाहिए और तत्त्व प्राप्ति भी तो कुछ भी मुश्किल नहीं, बिल्कुल ही आसान है।

हे भगवन्! ये सारा संसार बहुत ही दुःखी है, इसका कल्याण कैसे हो! न जाने ये सारी दुनिया कहाँ दुःख में सुख मान रही है और पागलों की तरह कहाँ फँस रही है। सुख को बाहर ढूंढती फिर रही है, इन्हें क्यों नहीं दिखाई देता कि भोगों में, पर पदार्थों में सुख है ही नहीं। मुझे तो बड़ा ही भारी अफसोस आता है कि इनके अपने ही अन्दर आनन्द भरा है, आनन्द का समुद्र लहरा रहा है पर इन बेचारों को नहीं मालूम।

मेरे तो रोम-रोम में जीव मात्र के कल्याण की भावना समाई है। हे भगवन्! सबको सद्बुद्धि दो। यही हार्दिक भावना निरन्तर रहती है कि यह जो तत्त्व मुझे मिला है, यह जो सुख और आनन्द मिला है वह सब ही को बाँट दूँ, सबको सिखा दूँ, कोई भी जीव बाकी न रह जाए, सबको ही इस आनन्द व सुख की प्राप्ति हो, जीव मात्र ही इस मार्ग पर लग जाए और सुखी हो जाए, सबका मोक्षमार्ग बने, सब शीघ्र-अति शीघ्र संसार बंधनों से पार हो जाएं और सिद्धों के वंश में जा मिलें।

यह सब भाई जी श्री बाबूलाल जी, कलकत्ते वालों की ही देन है, उन्होंने हमें वर्तमान में ही सुखी कर दिया। उनका मेरे ऊपर परम-परम उपकार है जो मैं जन्म-जन्म में भी भुला या चुका नहीं सकती।

प्रेमलता जैन

हे आत्मन! तू क्यों पर में जाता है तेरा पर से क्या नाता है, तुझे पर से क्या लेना देना है। बाहर में क्या रखा है तुम्हारा?

हे आत्मन! तू तो अजर अमर है, तेरा मरना नहीं।

हे आत्मन! अपने में ही रहो। देखो अपने आनन्द घन स्वरूप को अंदर ही झुको। क्यों पर के बारे में सोचते हो। चलो अंदर। क्या है तेरा बाहर में, फिर सोचा पर के बारे में।

हे आत्मन! क्यों नहीं अपने आनन्द घन स्वरूप में, अपने आनन्द के समुद्र में उतरते, चलो भीतर, वो अपना ज्ञानानन्द समुद्र तुम्हें बुला रहा है। क्यों बाहर झांक रहे हो। भीतर देखो अपनी सत्ता का अवलोकन करते जाओ, सावधान। एक सेकिण्ड की असावधानी हुई कि अपनी आत्म निधि लुटी, पूरी सावधानी से रहो। बाहर क्यों झांकते हो, अंदर देखो। वह शान्ती का समुद्र तुम्हें बुला रहा है, उसमें अवगाहन करो। उसमें डुबकियाँ लगाओ।

हे आत्मन! अपने में ही रहो, बाहर क्या रखा है तुम्हारा? चलो भीतर, सावधान। कहाँ पर में जा रहे हो?

हे आत्मन! तेरा है ही क्या, बस स्वभाव में ही रहो, सावधान।

हे आत्मन! विदेह क्षेत्र में स्थित श्रीमंदर भगवान के दर्शन करो। सिद्धों का ध्यान करो, सिद्धों वत् अपने को देखो।

हे आत्मन! जब अपने को अपना रूप देखना एकदम आसान है तो क्यों नहीं अपने को देखते हो, देखो, भीतर देखो। चलो भीतर। देखो, वो सिद्ध तुम्हें बुला रहे हैं। सिद्धों की टोली में ही जा कर मिलना है। बस सावधान, एकदम सावधान, बिलकुल सावधान। कहाँ पर में जा रहे हो, चलो भीतर, क्यों नहीं स्वभाव में रहते। अंदर देखो। कहाँ गए बाहर।

हे आत्मन! स्वभाव में ही स्थिर, स्थिर, स्थिर रहो। भीतर में ही रम जाओ, जम जाओ, बाहर मत जाओ, बस अंदर में ही उतर जाओ। बाहर तो खतरा ही खतरा है। चारों ही ओर खतरा है, बस अंदर ही अंदर उतरते जाओ, और अंदर, और अंदर, और गहरे, गहरे ही गहरे, और गहरे, और गहरे, और गहरे, उतरते ही चले जाओ, उतरते ही चले जाओ, देखो भीतर कितना आनन्द है, लबालब आनन्द भरा है, आनन्द ही आनन्द है।

बारहमासे का सार

यति नैनसुखदास जी द्वारा विक्रम संवत् १६२७ में विरचित वज्रदंत चक्रवर्ती का यह अत्यंन्त ही सुन्दर वैराग्य रस से सराबोर एवं भावनापूर्ण बारहमासा है। कवि ने बारह भावना, राजुल बारहमासा एवं अनेक भजन आदि विविध रचनाओं का निर्माण करके जैन साहित्य को सम द्ध किया है। बारहमासा प्रारम्भ करते हुए उन्होंने बहुत सुन्दर रूपक खींचा है कि इन्द्र के समान भोगों के धनी वज्रदन्त चक्रवर्ती बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के बीच में अपनी सभा लगाकर बैठे हुए थे, उस समय माली के द्वारा लाए हुए कमल में म त भौंरे को देखकर भव्य होनहार युक्त उनके भीतर वैराग्य धारा उल्लसित हुई कि 'अहो ! मात्र एक इंद्रिय के वशीभूत इस भौंरे की यह दुर्दशा हुई तो मैं तो विषय-कषायों के जाल में पड़ा हूँ , यदि अब भी अपना हित नहीं करुँगा तो न जाने कौन सी गति में जाकर पड़ जाऊँगा।' उनके चित्त में आत्म-कल्याण की वांछा ने जोर पकड़ा और उन्होंने जैन दीक्षा अंगीकार करने की मन में ठान ली।

अपने एक हजार पुत्रों को बुलाकर उन्हें अपने वैराग्य भाव से अवगत कराके चक्रवर्ती राज्य-भार को संभलवाने की चेष्टा में रत हुए परन्तु संसार-शरीर-भोगों से उदासीनता युक्त वे सारे पुत्र आखिर वैराग्यवन्त चक्रवर्ती के ही पुत्र ठहरे, पिता के द्वारा उपभुक्त राज्य-लक्ष्मी रूपी वमन को वे कैसे अंगीकार कर सकते थे सो सबने ही एक स्वर से उसका निषेध किया कि 'जगत के जिस जंजाल को आप बुरा जानकर छोड़ रहे हैं हमें उसमें ही फँसा रहे हैं, हम कदापि यह स्वीकार न करेंगे और आपके ही साथ मुनिव्रत अंगीकार कर पाँच महाव्रतों को धारण करेंगे।'

अब यहाँ से बारह मास प्रारम्भ होते हैं। आसाढ़ से लेकर दस मास पर्यन्त पिता-पुत्र का संवाद है। आसाढ़ के मास से पिता ने पुत्रों को जो समझाना प्रारम्भ किया कि चैत का महिना आ गया पर पुत्रों की निरन्तर जिनदीक्षा को अंगीकार कर लेने की द ढ़ता ही सामने आई। निर्ग्रन्थ मार्ग के उपसर्ग एवं परिषहों आदि के अनेक कष्ट, मुनिव्रत व संयम पालन की कठिनाईयाँ, भोगों के त्याग की दुष्करता, विषय-कषाय व काम भाव की जीव में प्रचुरता, भाव की स्थिरता का अभाव एवं तप धारण की दुर्द्धरता आदि-आदि बताकर पिता ने हर मास में पुत्रों को राजनीति के अनुसार राज्य-कार्य करके अपने कुल की ही रीति पर चलने की ओर प्रेरित किया

परन्तु संसार-शरीर-भोगों से कंपायमान चित्त वालें, उपसर्ग-परिषहो में मन की द ढ़ता से युक्त, आत्म-अनुभव की महिमा से ओतप्रोत, मुनि दीक्षा धारण करने की धन्यता के भाव सहित और बंध के अभाव के उद्यम के प्रमोद वाले उन पुत्रों का हर मास में यही उत्तर आया कि 'जो आपकी समझ है वही हमारी भी समझ है, जो भौंरा कर के कंगनवत् आपको संसार की अनित्यता दिखा गया है वही हमें भी दिखा गया है, हमें आप राज्य-पद क्यो दे रहे हैं ?'

पिता द्वारा वनवास के दुःखों का भय दिये जाने पर तो पुत्रों ने संसार की चार गति और चौरासी लाख योनियों के और उनमें भी नरकों व तिर्यंचों के अनन्तानन्त दुःखों की याद दिला दी कि 'परवश इतने दुःख अनन्त बार सहे उनके सामने हे पिता ! ये दुःख क्या दुःख हैं' और उनके द्वारा अपनी इतनी विशाल सम्पत्ति को अंगीकार करके भोगने का लोभ प्रदान करने पर पुत्रों ने भोगों को अनन्त धिक्कारता दी कि ' हे क पानिधान ! आपके प्रसाद से अमर्यादित भोग हमने भोगे परन्तु अब हमारे भीतर भोगों की चाह मात्र शेष नहीं है। ये भोग ही वे वस्तु हैं जिनके चक्र में फंसकर यह जीव मुक्ति की अनुपम राह को भूल जाता है।' चैत मास के दसवें महिने में पहुँचने पर पिता ने जब वसन्त ऋतु में कामदेव के द्वारा ज्ञान के परम खजाने को हर लेने पर दुर्गति गमन की बात कही तब पुत्रों ने उसमें भी अपनी द ढ़ता दिखाकर कहा कि 'वसन्त ऋतु में तो हम उस श्मशान भूमि में परिषह सहेंगे जहाँ हरितकाय का अंकुर तक नहीं होता, चारों ओर दिन-रात धूल ही धूल उड़ती है और वहाँ प्रचण्ड भूत-प्रेतों के शब्द सुनकर काम भाग जाता है।'

अब यहाँ पर आकर पिता के वक्तव्य पुत्रों के द्वारा असहनीय हो गये और वे उनसे अरदास कर उठे कि 'हे प्रभु ! अब आगे हमसे कुछ और मत कहना क्योंकि इन संसार-शरीर-भोगों से हमारा मन कांप चुका है, हम ये राज्य-पद किसी भी कीमत पर अंगीकार करने वाले नहीं हैं।

ग्यारहवाँ वैशाख का मास आने पर कविवर वर्णन करते हैं कि 'पुत्रों की अरदास सुनकर चक्रवर्ती के मन में विश्वास पैदा हो गया कि अब बोलने को कोई स्थान नहीं बचा है , मैं कुछ और कहता हूँ और ये पुत्र कुछ और ही कहे जा रहे हैं।' पुत्रों से वे बोले कि 'अब मैं कुछ और नहीं कहूँगा, तुम इस जगत की रीति का पालन करो और एक बार हमसे तो राज्य

लेकर फिर चाहे जिसको भी दे दो।' फिर छह मास के एक पोते का अभिषेक करके उसे राजा बनाकर पिता के साथ सब पुत्रों ने जगत के जंजाल से निकलकर वन के मार्ग को ग्रहण किया और केवल वे एक हजार बड़भागी पुत्र ही नहीं वरन् उनके साथ बत्तीस हजार में से तीस हजार मुकुटबद्ध राजा और छियानवे हजार में से साठ हजार रानियाँ भी संसार को त्याग कर चल दीं। सबने ही भोगों की ममता को छोड़ दिया और समता भाव धारण कर तीनों लोकों के जीवों से विनती की कि 'हमने तो अर्हंत, सिद्ध और साधु की शरण ग्रहण करके सबसे वैर छोड़ दिया है, आप सब भी हमसे वैर को छोड़कर हमको क्षमा करना, आज हम जैनेश्वरी दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं और सर्वज्ञ भगवान के मत में हमने अपना मन लगा लिया है'—ऐसा कहकर वज्रदन्त चक्रवर्ती सहित उन इक्यानवें हजार जीवों ने पिहितास्रव गुरु के समीप केशों का लोंच करके जैन दीक्षा ग्रहण की और निर्विकल्प होकर ध्यान में द ढ़ता धारण की।

अन्तिम ज्येष्ठ मास के ग्रीष्म काल में पहितास्रव गुरु ने आतापन योग धारण करके शुक्ल ध्यान के द्वारा तीनों लोकों को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान केवलज्ञान को प्रकट किया और वे वज्रदन्त मुनीश भी स्व-पर कल्याण करके आवागमन को तिलांजलि देकर कालान्तर में शिवपुर (मोक्ष) गए और निरंजन व निराकार हो गए। अन्य भी जिनदीक्षा ग्रहण करने वाले सब ही जीवों की शुभ गति हुई। जो भी जीव जिनेन्द्र भगवान की शरण ग्रहण करते हैं उनके पुरुषार्थ की सिद्धि के उपाय से उत्क ष्ट प्रयोजन मोक्ष की सिद्धि हो जाती है।

कविवर नैनानन्द जी कहते हैं कि 'इस बारहमासे को पढ़कर जो कोई जीव उल्लसित चित्त से इसकी भावना भाता है उसके विघ्न नष्ट होकर नित्यप्रति नवीन मंगल होते हैं और वह सुर-नर के सुखों को भोगकर उत्तम मोक्ष को पा लेता है।' वज्रदन्त चक्रवर्ती के व त्तान्त को पूर्ण करते हुए कवि नैनानन्द के नयनों में आनन्द भर रहा है और अन्त में अत्यंत लघुता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने अपनी बालबुद्धि दर्शाकर ज्ञानी जीवों से इस बारहमासे को शुद्ध करने की और अपने दोषों पर रोष न करने की प्रार्थना की है।

सवैया

वन्दूं मैं जिनन्द परमानन्द के कंद,
जगवन्द विमलेन्दु[1] जड़तातप[2] हरन कूं।
इन्द्र धरणेन्द्र गौतमादिक गणेन्द्र जाहि,
सेवैं राव-रंक भव सागर तरन कूं।
निर्बन्ध निर्द्वन्द्व दीनबन्धु दयासिन्धु,
करैं उपदेश परमारथ करन कूं।
गावैं नैनसुरवदास वज्रदन्त बारहमास,
मेटो भगवन्त मेरे जनम-मरन कूं।।

अर्थः- जो परम आनन्द के पिण्ड हैं, जगत से वंदनीय हैं, जो जड़ता रूपी गर्मी को हरने के लिए निर्मल चन्द्रमा हैं, संसार समुद्र से तिरने के लिए इन्द्र, धरणेन्द्र, गौतमादि गणधर और राजा हो चाहे रंक सब ही जिनकी सेवा करते हैं, जो बंध रहित हैं, राग-द्वेष के द्वन्द्व रहित हैं, दीनजनों के बंधु हैं, दया के सिन्धु हैं और भव्यों को उनके मोक्ष रूपी उत्कष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए उपदेश करते हैं उन जिनेन्द्र की वन्दना करके नैनसुखदास जी वज्रदंत चक्रवर्ती का बारहमासा रच रहे हैं और प्रभु के चरणों में उनकी यही विनय है कि हे भगवान! मेरे जन्म-मरण को मिटा दो।

दोहा

वज्रदन्त चक्रेश की, कथा सुनो मन लाय।
कर्म काट शिवपुर गये, बारह भावन भाय

अर्थः- हे भव्यों! जो बारह भावनाओं को भाकर, अपने कर्मों को काटकर मोक्ष गए उन वज्रदंत चक्रवर्ती की कथा तुम मन लगाकर सुनो।

❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁

अर्थः- १.निर्मल चन्द्रमा। २.जड़ता (मिथ्यात्व) रूपी गर्मी।

सवैया

बैठे वज्रदन्त आय आपनी सभा लगाय,
ताके पास बैठे राय बत्तीस हजार हैं।
इन्द्र के से भोग सार रानी छ्यानवे हजार,
पुत्र एक सहस्त्र महान गुणागार[१] हैं।
जाके पुण्य प्रचण्ड से नये[२] हैं बलवंत शत्रु,
हाथ जोड़ मान छोड़ सेवैं दरबार हैं।
ऐसो काल पाय माली लायो एक डाली तामें,
देखो अलि[३] अम्बुज[४] मरण भयकार हैं।।

अर्थः- वज्रदंत चक्रवर्ती राजदरबार में आकर अपनी सभा लगाकर विराजमान हैं, उनके पास ही बत्तीस हजार (मुकुटबद्ध) राजा बैठे हुए हैं। चक्रवर्ती के इन्द्र के समान सारभूत भोग हैं, छियानवे हजार रानियाँ है और गुणों के समूह एक हजार पुत्र हैं। उनके प्रचण्ड पुण्य से बलवान शत्रु भी उनके सामने झुक गए हैं और हाथ जोड़कर एवं मान छोड़कर वे उनके दरबार का सेवन कर रहे हैं ऐसा समय पाकर माली कमल की एक डाली लाता है और उसमें वे चक्रवर्ती मरण से भयभीत करने वाले एक भौंरे को देखते हैं।

सवैया

अहो ! यह भोग महा पाप को संयोग देखो,
डाली में कमल तामें भौंरा प्राण हरे है।
नासिका[५] के हेतु भयो भोग में अचेत सारी,
रैन[६] के कलाप[७] में विलाप इन करे है।
हम तो हैं पाँचों ही के भोगी भये जोगी नांहि,
विषय-कषायनि के जाल मांहि परे हैं।
जो न अब हित करुँ जाने कौन गति परुँ,
सुतन बुलाय के यों वच अनुसरे हैं।।

अर्थः- १.गुणों के समूह। २.झुके। ३.भौंरा। ४.कमल। ५.नाक (घ्राण इन्द्रिय)। ६.रात। ७.समूह।

अर्थः- चक्रवर्ती विचारते हैं कि 'अहो ! देखो ! ये भोग कैसे महा पाप के संयोग रूप हैं कि डाली के कमल में इस भौंरे ने घ्राण इन्द्रिय के वशीभूत हो भोगों में अचेत होकर सारी रात के समूह में विलाप करके अपने प्राणों को हर लिया। केवल एक इन्द्रिय के वशीभूत इसकी यह दशा है तो मैं तो पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों का भोगी हूँ,योगी नहीं हुआ हूँ और विषय-कषायों के जाल में ही पड़ा हूँ। यदि अभी भी अपना हित नहीं करुँगा तो न जाने कौन सी गति में जाकर पड़ जाऊँगा'-ऐसा विचार करके पुत्रों को बुलाकर उन्होंने निम्नोक्त वचन कहे।

सवैया

अहो सुत ! जग रीति देख के हमारी नीति,
भई है उदास बनोवास अनुसरेंगे।
राजभार शीस धरो परजा का हित करो,
हम कर्म शत्रुन की फौजन सूं लरेंगे।
सुनत वचन तब कहत कुमार सब,
हम तो उगाल[1] कूं न अंगीकार करेंगे।
आप बुरो जान छोड़ो हमें जगजाल बोड़ो[2],
तुमरे ही संग पंच महाव्रत धरेंगे।।

अर्थः- 'अहो पुत्रों ! इस संसार की रीति देखकर हमारी नीति उदास हो गई है, अब तो हम वनवास का ही अनुसरण करेंगे। तुम तो इस राज्य के भार को शीस पर धारण करके प्रजा का हित करो और हम कर्म शत्रुओं की फौज से लड़ाई करेंगे।' पिता के ऐसे वचन सुनकर सारे कुमार कहने लगे कि 'हम तो आपके उगाल को अंगीकार नहीं करेंगे, जिस जगत के जाल को आप बुरा जानकर छोड़ रहे हैं उसी में हमें फँसा रहे हैं, हमें यह स्वीकार नहीं हैं, हम तो आप ही के साथ पाँच महाव्रतों को धारण करेंगे।'

❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁❁

१.वमन–उल्टी। २.डुबा रहे हो।

पिता

चौपाई

सुत असाढ़ आयो पावस काल। सिर पर गरजत यम विकराल।
लेहु राज सुख करहु विनीत। हम वन जांय बड़न की रीति।।

अर्थः- आसाढ़ के महिने में बरसात का समय आने पर ऐसे घनघोर बादल गरजते हैं मानों सिर पर विकराल यम ही गरज रहा हो अतः हे विनीत पुत्रों ! तुम तो इस राज्य को लेकर सुखपूर्वक रहो, हम वन को जाते हैं और बड़ों की ऐसी रीति ही है कि वे इसी प्रकार छोटों को राज्य संभलवाके दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

गीता छंद

जांय तप के हेत वन को, भोग तज संजम धरैं।
तज ग्रन्थ सब निर्ग्रन्थ हों,संसार सागर से तरैं।
ये ही हमारे मन बसी, तुम रहो धीरज धार के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- हम तप के लिए वन को जा रहे हैं जहाँ भोगों का त्याग करके संयम को धारण करेंगे और अन्तरंग एवं बहिरंग समस्त परिग्रह को छोड़ निर्ग्रन्थ होकर संसार समुद्र से तिर जाएंगे। हमारे मन में तो यही बात बस गई है, तुम यहाँ पर धैर्य धारण करके रहो और राजनीति का विचार करके राज्य-काज करो, यही हमारे कुल की रीति है इसी का तुम अनुसरण करो।

चौपाई

पुत्र

पिता राज तुम कीनो वौन[१]। ताहि ग्रहण हम समरथ हौं न।
यह भौंरा भोगन की व्यथा। प्रकट करत कर कंगन यथा।।

अर्थः- हे पिता ! आपने तो राज्य का वमन कर दिया है, उस वमन को ग्रहण करने में हम समर्थ न हो सकेंगे और फिर यह भौंरा भोगों की व्यथा को कर के कंगन के समान प्रकट कह तो रहा है।

गीता छंद

यथा कर का कांगना, सन्मुख प्रकट नजरां परे।
त्यों ही पिता भौंरा निरखि,भव भोग से मन थरहरे।
तुमने तो वन के वास ही को,सुक्ख अंगीक त किया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी,हमें न प पद क्यों दिया।।

अर्थः- जिस प्रकार कर का कंगन नजरों के सामने स्पष्ट ही दिखाई देता है उसी प्रकार हे तात ! इस भौंरे को देखकर हमारा मन संसार और भोगों से थरथरा रहा है। आपने तो वन के निवास ही को सुख रूप से अंगीकार किया है सो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

अर्थः- १. वमन।

पिता

चौपाई

सावन पुत्र कठिन बनवास। जल थल शीत पवन के त्रास।
जो नहिं पले साधु आचार। तो मुनि भेष लजावैं सार।।

अर्थः- हे पुत्रों ! जिसमें सारी प थ्वी जलमय हो जाती है और शीतल पवन का बहुत त्रास भोगना पड़ता है ऐसे सावन के महिने में वनवास कठिन होता है और ऐसे में यदि साधु के आचार (दिगम्बर मुनि की आगमोक्त चर्या) का पालन न हो पाए तो तीनों लोकों में सार रूप यह दिगम्बर मुनि का वेष लजाया जाता है।

गीता छंद

लाजे श्री मुनि वेष तातैं, देह का साधन करो।
सम्यक्त्व युत व्रत पंच में तुम, देशव्रत मन में धरो।
हिंसा असत् चोरी परिग्रह, अब्रह्मचर्य सुटार के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- क्योंकि साधु का आचार नहीं पलने पर मुनिवेष का अपयश होता है इसलिए तुम देह की संभाल करो, सम्यक्त्व युक्त अहिंसादि पाँच व्रतों में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह पापों को टालकर महाव्रतों के स्थान पर देशव्रत की ही धारणा मन में धारण करो और राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

चौपाई

पुत्र

पिता अंग[1] यह हमरो नाहिं। भूख-प्यास पुद्गल परछाहिं।
पाय परीषह कबहुँ न भजैं। धर संन्यास मरण तन तजैं।।

अर्थः- हे पिता ! यह शरीर हमारा नहीं है और भूख–प्यास तो पुद्गल की छाया है, परिषहों को पाकर हम कभी भी भागेंगे नहीं और संन्यासमरण धारण करके इस देह को छोड़ देंगे।

गीता छंद

संन्यास धर तन कूं तजें, नहिं दंशमंशक[2] से डरैं।
रहें नग्न तन वन खंड में, जहाँ मेघ मूसल जल परैं।
तुम धन्य हो बड़भाग तज के, राज तप उद्यम किया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न प पद क्यों दिया।।

अर्थः- हम तन को संन्यास धारण करके तज देंगे और मच्छरों के काटने (दंशमशक परीषह) से डरेंगे नहीं, वनखंड में हम नग्न तन रहेंगे जहाँ मेघों का मूसलाधार जल शरीर पर पड़ेगा। हे बड़भागी पिता ! आप धन्य हैं जो राज्य को छोड़कर तप का उद्यम कर रहे हैं परन्तु जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

अर्थः- १. शरीर। २.मच्छरों का काटना।

पिता

चौपाई

भादौ में सुत उपजे रोग। आवैं याद महल के भोग।
जो प्रमाद वश आस न टले। तो न दयाव्रत तुमसे पले।।

अर्थः- हे पुत्रों ! जब भादौ के महिने में शरीर में रोग पैदा हो जाएंगे तब महल के भोग तुम्हें याद आएंगे और प्रमाद के वश यदि भोगों की आशा नहीं टलेगी तो फिर तुमसे दयाव्रत का पालन नहीं हो सकेगा।

गीता छंद

जब दयाव्रत नहिं पले तब, उपहास जग में विस्तरे।
अर्हंत अरु निर्ग्रन्थ की कहो, कौन फिर सरधा करे।
तातैं करो मुनि दान पूजा, राज काज संभाल के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- दयाव्रत का जब पालन नहीं हो सकेगा तो जगत में उपहास होगा ओर फिर बताओ कि वीतराग अर्हंत देव और निर्ग्रन्थ गुरु की कौन श्रद्धा करेगा इसलिए तुम राज्य का काज संभालके श्रावक के मुख्य कर्तव्य पूजा और मुनियों को आहार-दान ही करो और राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

पुत्र

चौपाई

हम तजि भोग चलेंगे साथ। मिटें रोग भव भव के तात।
समता मन्दिर में पग धरैं। अनुभव अम त सेवन करैं।।

अर्थः- हे तात ! हम भोगों को तजके आपके साथ ही वन को चलेंगे जिससे हमारे भव-भव के रोग मिट जाएंगे, समता मन्दिर में हम प्रवेश करेंगे और आत्म-अनुभव रूपी अम त का सेवन करेंगे।

गीता छंद

करैं अनुभव पान आतम, ध्यान वीणा कर धरैं।
आलाप मेघ मल्हार सो हं, सप्त भंगी स्वर भरैं।
ध ग्-ध ग् पखावज भोग कूं, सन्तोष मन में कर लिया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न प पद क्यों दिया।।

अर्थः- अनुभव रस का पान करके हम आत्म-ध्यान रूपी वीणा हाथ में लेंगे, मेघमल्हार के राग में सो हं का गीत गाएंगे और उसमें सात नयों की सप्तभंगी के स्वर भरेंगे, पखावज बाजे की ध ग्-ध ग ध्वनि यह द्योतित करेगी कि भोगों को धिक्कार हो ! धिक्कार हो ! अब भोग नहीं चाहिएं, उनसे हमने मन में संतोष धारण कर लिया है और आपकी जो समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

पिता

चौपाई

आसुज भोग तजे नहिं जांय। भोगी जीवन को डसि रवांय।
मोह लहर जिया की सुधि हरे। ग्यारह गुणथानक चढ़ि गिरे।।

अर्थः- असौज में तुमसे भोग छोड़े नहीं जाएंगे, ये भोग भोगी जीवों को सर्प के समान डसकर खा जाते हैं और उससे मोह रूपी विष की जो तन में लहरें चलती हैं वे हृदय की सुध को हर लेती हैं और ग्यारहवें गुणस्थान पर भी चढ़कर वहाँ से मोह की लहरों के वश जीव नीचे गिर जाता है।

गीता छंद

गिरे थानक ग्यारवें से, आय मिथ्या भू परे।
बिन भाव की थिरता जगत में, चतुर्गति के दुःख भरे।
रहें द्रव्यलिंगी जगत में, बिन ज्ञान पौरुष हार के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर जीव पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व की भूमि पर आकर पड़ जाता है, बिना आत्मज्ञान के पुरुषार्थ को हारकर द्रव्यलिंगी ही रह जाता है और भाव की स्थिरता के बिना संसार में चारों गतियों के दुःखों को भोगता है अतः तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

पुत्र

चौपाई

विषय विडार[1] पिता तन कसैं। गिर कन्दर[2] निर्जन वन बसैं।
महामंत्र को लखि परभाव। भोग भुजंग[3] न घालें घाव।।

अर्थः- हे पिताजी ! विषयों का त्याग करके कायक्लेश के द्वारा तन कसकर हम पहाड़ों की गुफा अथवा निर्जन वन में निवास करेंगे और णमोकार मंत्र का प्रभाव देखकर भोग रूपी साँप हमें डसकर घाव नहीं करेंगे।

गीता छंद

घालें न भोग भुजंग तब क्यों, मोह की लहरां चढैं।
परमाद तज परमात्मा, परकाश जिन आगम पढ़ैं।
फिर काल लब्धि उद्योत होय, सुहोय यों मन थिर किया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न प पद क्यों दिया।।

अर्थः- जब भोग भुजंग घाव नहीं करेंगे तब मोह की लहरें कैसे चढ़ेंगी ! प्रमाद को छोड़कर परमात्म-तत्त्व को प्रकाशित करने वाले जिन आगम को जब हम पढ़ेंगे तब काललब्धि का उद्योत होगा ही होगा, इस प्रकार हमने अपने मन को स्थिर कर लिया है और जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

अर्थः- १. छोड़कर। २.पहाड़ की गुफा। ३.साँप।

पिता

चौपाई

कातिक में सुत करैं विहार। कांटे कांकर चुभैं अपार।
मारैं दुष्ट खैंच के तीर। फाटे उर थरहरे शरीर।।

अर्थः- हे पुत्रों ! कार्तिक मास में मुनि जब विहार करते हैं तब शरीर में अपार काँटे और कंकड़ चुभते हैं तथा दुष्ट जन जब खैंचकर तीर मारते हैं तब उससे हृदय तो फट जाता है और सारा शरीर थरथराहट करके काँप उठता है।

गीता छंद

थरहरे सगरी देह अपने, हाथ काढ़त नहिं बने।
नहिं और काहू से कहें तब, देह की थिरता हने।
कोई खैंच बांधे थम्भ से, कोई खाय आंत निकाल के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- तीर से जब सारा शरीर थरथराहट करता है तो अपने हाथों से वह तीर निकालते बनता नहीं है और अन्य किसी से निकालने को कहते नहीं हैं तब देह की स्थिरता का हनन हो जाता है और कोई दुष्ट तो खैंचकर खम्भे से बाँध देता है और कोई आंत निकालकर खा जाता है इसलिए तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

पुत्र

चौपाई

पद-पद पुण्य धरा में चलें। कांटे पाप सकल दलमलें।
क्षमा ढाल तल धरें शरीर। विफल करें दुष्टन के तीर।।

अर्थः- हम पग-पग पर पुण्य रूपी भूमि पर चलेंगे, पाप रूपी सारे कांटों के समूह को मसल देंगे और क्षमा रूपी ढाल के तल को शरीर पर धारण करके दुष्ट जनों के तीरों को निष्फल कर देंगे।

गीता छंद

कर दुष्ट जन के तीर निष्फल, दया कुंजर[1] पे चढ़ें।
तुम संग समता खड्ग[2] लेकर, अष्ट कर्मन से लड़ें।
धनि धन्य यह दिन वार प्रभु ! तुम, योग का उद्यम किया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न प पद क्यों दिया।।

अर्थः- दुष्टजनों के तीरों को निष्फल करके हम दया रूपी हाथी पर चढ़ेंगे और आपके साथ समता रूपी खड्ग (तलवार) लेकर आठ कर्मों से लड़ाई करेंगे। हे प्रभु ! आज का यह दिन धन्य है और यह वार धन्य है जो आप योग का उद्यमकरने जा रहे हैं परन्तु जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

अर्थः- १. हाथी। २.तलवार।

पिता

चौपाई

अगहन मुनि तटनी[१] तट रहें। ग्रीषम शैल[२] शिखर दुःख सहें।
पुनि जब आवत पावस काल[३]। रहें साधु जन वन विकराल।

अर्थः- अगहन के महिने में (शीत ऋतु में) मुनिराज नदी के तट पर रहते हैं, ग्रीष्म काल में पर्वत के शिखर पर दुःख सहते हैं और फिर जब वर्षा काल आता है तो साधुजन विकराल वन में रहते हैं।

गीता छंद

रहें वन विकराल में जहाँ, सिंह स्याल[४] सतावहीं।
कानों में बीछू बिल करें, और व्याल[५] तन लिपटावहीं।
दे कष्ट प्रेत पिशाच आन, अंगार पाथर डार के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- वे इतने विकराल वन में रहते हैं जहाँ शेर और गीदड़ सताते हैं, कानों में बिच्छू बिल बना लेते हैं, सांप शरीर पर लिपट जाते हैं तथा प्रेत और पिशाच आकर अंगारे और पत्थर बरसाके कष्ट देते हैं इसलिए तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

पुत्र

चौपाई

हे प्रभु ! बहुत बार दुःख सहे। बिना केवली जाय न कहे।
शीत उष्ण नरकन के तात। करत याद कम्पे सब गात[६]।।

अर्थः- हे प्रभु ! इस संसार में हमने बहुत बार इतने दुःख सहे हैं कि बिना केवली भगवान के वे कहे नहीं जा सकते। हे पिता ! नरकों मे जो गर्मी-सर्दी के दुःख हमने सहे उनका स्मरण करते हुए हमारा सारा शरीर काँप रहा है।

गीता छंद

गात कम्पे नरक में, लहे शीत उष्ण अथाह ही।
जहाँ लाख योजन लोहपिण्ड सु, होय जल गल जाय ही।
असिपत्र वन[७] के दुःख सहे परबस, स्वबस तप ना किया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न पपद क्यों दिया।।

अर्थः- नरक में सर्दी के दुःख प्राप्त होने पर शरीर काँपता है और वहाँ इतनी अथाह गर्मी पड़ती है कि एक लाख योजन का लोहे का गोला गल करके जलमय हो जाता है। नरकों में कर्मों के वश पराधीन होकर हमने असिपत्र वन के दुःख भी सहन कर लिये परन्तु आज तक स्ववश होकर तप नहीं किया सो अब जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

अर्थः- १. नदी। २.पर्वत। ३.वर्षा ऋतु। ४.गीदड़। ५.सर्प। ६.शरीर। ७.नरक का वन जो तलवार की धार जैसे पत्तों के वृक्षों से युक्त होता है।

पिता

चौपाई

पौष अर्थ अरु लेहु गयंद[1]। चौरासी लख लख सुखकन्द।
कोड़ि अठारह घोड़ा लेहु। लाख कोड़ि हल चलत गिनेहु।।

अर्थः- पौष का महिना है। हे पुत्रों ! इन धनादि को सुख का पिण्ड जानकर ये सारा धन, चौरासी लाख हाथी तथा अठारह करोड़ घोड़े ले लो और ये एक लाख करोड़ हल चल रहे हैं इनको गिनकर ग्रहण कर लो।

गीता छंद

लेहु हल लख कोड़ि षट् खण्ड, भूमि अरु नव निधि बड़ी।
लो देश कोष विभूति हमरी, राशि रतनन की पड़ी।
धर देहुँ सिर पर छत्र तुमरे, नगर घोष उचारि के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- इन एक लाख करोड़ हलों को लेकर ये छह खण्ड की भूमि, बड़ी नौ निधियां, सारे देश-कोष की विभूति और रत्नों की सारी राशियों को ग्रहण करो, नगर में घोषणा करवाके मैं तुम्हारे सिर पर छत्र रख देता हूँ , तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

पुत्र

चौपाई

अहो क पानिधि ![2] तुम परसाद। भोगे भोग सु बेमरयाद।
अब न भोग की हम कूं चाह। भोगन में भूले शिव राह।।

अर्थः- अहो क पानिधि ! आपके प्रसाद से हमने अमर्यादित भोग भोगे हैं परन्तु अब हमको भोगों की चाह नहीं है। इन भोगों की आसक्ति के कारण ही हम अनादि से मुक्ति की राह भूले हुए थे।

गीता छंद

राह भूले मुक्ति की, बहु बार सुर गति संचरे।
जहाँ कल्पव क्ष सुगन्ध सुन्दर, अप्सरा मन को हरे।
जो उदधि[3] पी नहिं भया तिरपत, ओस पी कै दिन जिया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न पपद क्यों दिया।।

अर्थः- मुक्ति की राह भूलकर हम बहुत बार स्वर्गों में भी गए जहाँ सुगन्धित कल्पव क्ष थे और सुन्दर अप्सराएँ मन को हरती थीं सो जो समुद्र प्रमाण जल पीकर भी त प्त नहीं हुआ वह ओस पीकर कितने दिन जीवित रह सकेगा अतः जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

अर्थः- १. हाथी। २.क पा के खजाने। ३.समुद्र।

पिता

चौपाई

माघ सधै न सुरन तैं सोय। भोगभूमियन तैं नहिं होय।
हर[1] हरि[2] अरु प्रतिहरि[3] से वीर। संयम हेत धरें नहिं धीर।।

अर्थः- माघ के महिने में पिता कहते हैं कि 'संयम देवताओं से नहीं सधता, भोगभूमिया जीवों से नहीं हो पाता और रुद्र, नारायण एवं प्रतिनारायण जैसे महान् वीर भी संयम के लिए धैर्य धारण नहीं कर पाते।

गीता छंद

संयम कूं धीरज नहिं धरें, नहिं टरें रण में युद्ध सूं।
जो शत्रुगण गजराज कूं, दलमलें पकर विरुद्ध सूं।
पुनि कोटि सिल मुद्गर समानी, देय फैंक उपार के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- ये नारायण एवं प्रतिनारायण आदि रणभूमि में तो युद्ध से टलते नहीं हैं, विरूद्ध शत्रुओं के समूह एवं हाथियों को पकड़कर मसल देते हैं और कोटिशिला को मुद्गर के समान उखाड़कर फैंक देते हैं परन्तु संयम के लिए धैर्य धारण नहीं कर पाते तो जब ऐसे महापुरुषों की ही यह कथा है तो तुम जैसों की क्या बात ! अतः तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

पुत्र

चौपाई

बंध योग उद्यम नहिं करें। एतो तात करम फल भरें।
बांधे पूरव भव गति जिसी। भुगतें जीव जगत में तिसी।।

अर्थः- कर्म बंध के कारण ही ये नारायण और प्रतिनारायण जैसे महापुरुष योग का उद्यम नहीं करते और हे तात ! वे कर्म के ही फल को भोगते हैं। पूर्व भव में जीव जैसी गति बांधता है संसार में अगले भव में वैसी ही भोगता है।

गीता छंद

जीव भुगतें कर्म फल कहो, कौन विधि संयम धरें।
जिन बंध जैसा बांधियो, तैसा ही सुख दुःख सो भरें।
यों जान सब को बंध में, निर्बंध का उद्यम किया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न पपद क्यों दिया।।

अर्थः- जब संसार में जीव कर्मफल को ही भोगते हैं तो फिर कहो ! किस विधि से वे सयंम को धारण कर पाएंगे। जिसने भी जैसा कर्म का बंधन किया है वैसा ही सुख-दुःख वह भोगता है इस प्रकार सब ही जीवों को बंधमय जानकर आप निर्बंध अर्थात् मुक्त होने का उपाय कर रहे हैं सो जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

अर्थः- १. रुद्र। २.नारायण। ३.प्रतिनारायण।

पिता

चौपाई

फाल्गुन चाले सीतल बाय[1]। थर थर कम्पे सबकी काय।
तब भव बंध विदारणहार। त्यागें मूढ़ महाव्रत धार।।

अर्थः- फाल्गुन के महिने में शीतल वायु के चलने पर सब जीवों की काया थरथर कांपती है और तब धारण किये हुए संसार के बंध का विदारण करने वाले महाव्रतों को मूर्ख जीव छोड़ देते हैं।

गीता छंद

धार परिग्रह व्रत विसारें, अग्नि चहुँदिशि जारहीं[2]।
करें मूढ़ शीत वितीत[3], दुर्गति गहें हाथ पसारहीं।
सो होंय प्रेत पिशाच भूत रु, ऊत शुभ गति टारके।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- वे मूढ़ परिग्रह को धारण करके व्रतों को भूल जाते हैं और चारों दिशाओं में अग्नि को जलाकर शीतकाल को इस प्रकार बिताते हैं मानो हाथ फैलाकर दुर्गति को ही ग्रहण करते हों सो वे शुभ गति को टालकर प्रेत, पिशाच, भूत और ऊत हो जाते हैं इसलिए तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

पुत्र

चौपाई

हे मतिवन्त ! कहा तुम कही। प्रलय पवन की वेदन सही।
धारी मच्छ-कच्छ[4] की काय। सहे दुःख जलचर परजाय।।

अर्थः- हे मतिवंत ! फाल्गुन मास के शीतल वायु के अल्प दुःखों की यह आपने क्या बात कही हमने तो प्रलयकालीन पवन की वेदना भी सही है। मगरमच्छ और कछुए आदि की काय धारण करके जलचर पर्याय में हमने दुःख सहे हैं।

गीता छंद

पाय पशु परजाय परबस, रहे सींग बंधाय के।
जहाँ रोम रोम शरीर कम्पे, मरे तन तरफाय के।
फिर गेर चाम उचेर[5] स्वान[6], सियार मिल शोणित[7] पिया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न प पद क्यों दिया।।

अर्थः- पशु की पर्याय प्राप्त करके हमें कर्मवश सींग बंधवाके रहना पड़ता था जहाँ शरीर का रोम-रोम कांपता था, तड़फ-तड़फ कर प्राणों का विनाश हो जाता था और फिर शरीर को प थ्वी पर गिराकर चमड़ी उधेड़कर कुत्ते और सियार मिलकर उसका खून पी जाते थे इसलिए जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे है !

अर्थः- १.वायु। २.जला लेते हैं। ३.बिताते हैं। ४.कछुआ। ५.चमड़ा उधेड़कर। ६.कुत्ता। ७.खून।

पिता

चौपाई

चैत लता मदनोदय होय। ऋतु बसन्त में फूले सोय।
तिनकी इष्ट गन्ध के जोर। जागे काम महाबल फोर।।

अर्थः- चैत के महिने में वसन्त ऋतु में व क्षों की लताएँ जब फूलती हैं तो उनकी इष्ट गंध के जोर से मदन का उदय होता है और अपने महान बल को स्फुरायमान करके काम जाग जाता है।

गीता छंद

फोर बल को काम जागे, लेय मनपुर छीन ही।
फिर ज्ञान परम निधान हरि के, करे तेरा तीन ही।
इत के न उत के तब रहे, गए कुगति दोऊ कर झार के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

अर्थः- जीव के बल को फोड़कर अर्थात् नष्ट-भ्रष्ट करके काम जागता है, उसके मनपुर (मन रूपी नगर) को छीनकर उसमें बस जाता है और फिर उसके ज्ञान रूपी परम खजाने को हरके उसका विनाश कर देता है और तब इधर के और उधर के कहीं के भी नहीं रहकर दोनों हाथ झाड़कर कुगति में चले जाते हैं इसलिए तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

पुत्र

चौपाई

ऋतु बसन्त वन में नहिं रहें। भूमि मशान[1] परीषह सहें।
जहाँ नहिं हरितकाय अंकूर। उड़त निरन्तर अहनिशि[2] धूर।।

अर्थः- वसन्त ऋतु में हम वन में नहीं रहेंगे, हम तो उस श्मशान भूमि में परिषह सहेंगे जहां हरितकाय का अंकुर तक नहीं होता और दिन-रात निरन्तर धूल उड़ती है।

गीता छंद

उड़े वन की धूरि निशिदिन, लगे कांकर आय के।
सुन शब्द प्रेत प्रचण्ड के वो, काम जाय पलाय के।
मत कहो अब कछु और प्रभु, भव भोग से मन कंपिया।
तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें न पपद क्यों दिया।।

अर्थः- जब वन की धूल उड़ती है और निशदिन कंकर आकर शरीर पर लगते हैं तो प्रचण्ड प्रेतों के शब्द सुनकर काम भाग जाता है। हे प्रभो ! अब कुछ और मत कहो, संसार के भोगों से हमारा मन कांप चुका है, जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यो दे रहे हैं !

अर्थः- १. श्मशान भूमि। २.दिन–रात।

चौपाई

मास बैसाख सुनत अरदास। चक्री मन उपज्यो विश्वास।
अब बोलन को नाहीं ठौर[1]। मैं कहूँ और पुत्र कहें और।।

अर्थः- वैशाख का महिना है, पुत्रों की अरदास सुनते-सुनते चक्रवर्ती के मन में विश्वास पैदा हो गया कि अब बोलने को कोई स्थान नहीं बचा है, मैं कुछ और कह रहा हूँ और पुत्र कुछ और ही कहे जा रहे हैं।

गीता छंद

और अब कछु मैं कहूँ नहीं, रीति जग की कीजिये।
इक बार हमसे राज लेकर, चाहे जिसको दीजिये।
पोता था एक षट् मास का, अभिषेक कर राजा कियो।
पितु संग सब जगजाल सेती, निकस वन मारग लियो।।

अर्थः- हे पुत्रों ! अब मैं कुछ और नहीं कहूँगा, इस संसार की रीति का पालन करके एक बार हमसे तो राज्य ले लो फिर चाहे तुम किसी को भी दे देना। फिर उन्होंने छह महिने का एक पोता था उसको अभिषेक करके राजा बना दिया और पिता के साथ सब पुत्रों ने जगत के जंजाल से निकलकर वन के मार्ग को ग्रहण किया।

चौपाई

उठे वज्रदन्त चक्रेश। तीस सहस न प तजि अलवेश।
एक हजार पुत्र बड़भाग। साठ सहस्र सती जग त्याग।।

अर्थः- वज्रदन्त चक्रवर्ती सिंहासन से उठे और उनके साथ अलवेश को छोड़कर तीस हजार राजा, उनके बड़भागी एक हजार पुत्र और साठ हजार रानियों ने भी जगत का त्याग कर दिया।

गीता छंद

त्याग जग कूं ये चले सब, भोग तज ममता हरी।
समभाव कर तिहुँ लोक के, जीवों से यों विनती करी।
अहो ! जेते हैं सब जीव जग के, क्षमा हम पर कीजियो।
हम जैन दीक्षा लेत हैं, तुम वैर सब तज दीजियो।।

अर्थः- ममता का विनाश करके भोगों को त्याग कर ये सब संसार को छोड़कर चले और समता भाव को धारण करके तीनो लोकों के जीवों से इस प्रकार विनती की कि 'अहो संसार के समस्त जीवों ! तुम सब हम पर क्षमा करना, हम जैनेश्वरी दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं, तुम हमारे प्रति का सारा वैर छोड़ देना।

अर्थः- १. स्थान।

गीता छंद

वैर सबसे हम तजा,
अर्हंत का शरणा लिया।
श्री सिद्ध साधू की शरण,
सर्वज्ञ के मत चित दिया।
यों भाष पिहितास्रव गुरुन ढिग[१],
जैन दीक्षा आदरी।
कर लोंच तज के सोच[२] सबने,
ध्यान में दृढ़ता धरी।।

अर्थः- हमने भी सबसे वैर छोड़कर अर्हंत, सिद्ध और साधु की शरण ली है और भगवान सर्वज्ञ के मत में अपना चित्त लगा लिया है।' ऐसा कहकर उन्होंने पिहितास्रव गुरु के पास जैन दीक्षा ग्रहण की और केशों का लोंच करके समस्त चिंताओं को छोड़कर ध्यान में दृढ़ता धारण की।

अर्थः- १.समीप। २.चिंता (विकल्प)।

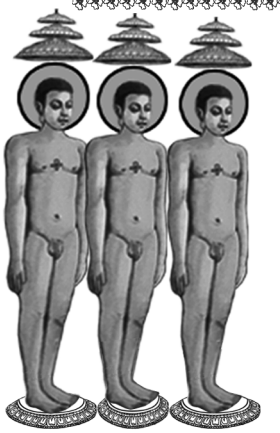

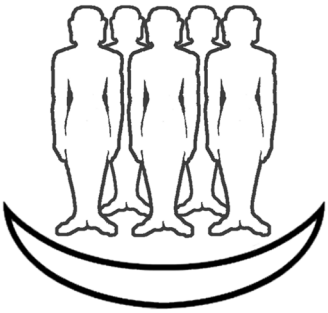

सब दीक्षार्थियों ने जगत के जीवों से वैर छोड़कर और क्षमा ग्रहण करवाके अरहंत, सिद्ध और निर्ग्रन्थ साधुओं की शरण ग्रहण की।

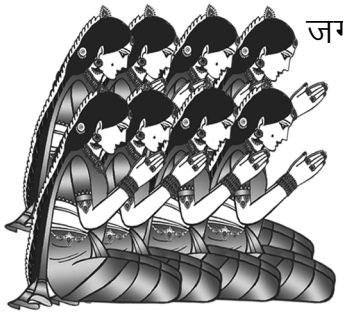

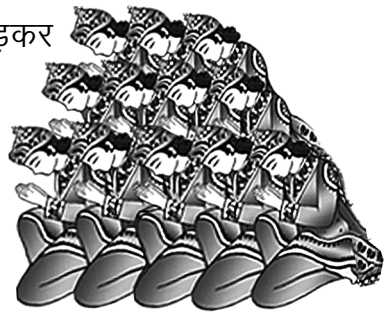

चौपाई

जेठ मास लू ताती[1] चले। सूखे सर कपिगण[2] मद गले।
ग्रीषम काल शिखर के शीस। धरो अतापन योग मुनीश।।

अर्थः- जेठ मास में गरम लुएँ चलती हैं तब सरोवर सूख जाते हैं और बन्दरों के समूहों का भी मद गल जाता है-ऐसे ग्रीष्म काल में पर्वत के शिखर के शीस पर मुनीश पिहितास्रव ने आतापन योग धारण किया।

गीता छंद

धर योग आतापन सुगुरु ने, शुक्ल ध्यान लगाइयो।
तिहुं लोक भानु[3] समान, केवलज्ञान तिन प्रगटाइयो।
धनि वज्रदन्त मुनीश जग तज, कर्म के सन्मुख भये।
निज काज अरु परकाज करके, समय में शिवपुर गये।।

अर्थः- आतापन योग को धारण करके सुगुरु ने जब शुक्ल ध्यान लगाया तो तीनों लोकों को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान केवलज्ञान उनके प्रकट हुआ। वे वज्रदन्त मुनीश धन्य हैं जो संसार को तजकर मुनि के आचारकर्म के सन्मुख हुए और अपने व दूसरों के कल्याण के कार्य को करके समय आने पर मोक्ष को गये।

चौपाई

सम्यक्त्वादि सुगुण आधार। भये निरंजन निर आकार।
आवागमन तिलांजलि दई। सब जीवन की शुभ गति भई।।

अर्थः- सम्यक्त्व आदि सुगुणों के आधार से आवागमन को तिलांजलि देकर वे वज्रदंत मुनीश कर्म रहित और निराकार हो गये और अन्य शेष दीक्षा धारण करने वाले सब जीवों की भी शुभ गति हुई।

गीता छंद

भई शुभगति सबन की जिन, शरण जिनपति की लई।
पुरुषार्थ सिद्धि उपाय से, परमार्थ की सिद्धि भई।
जो पढ़े बारहमास भावन, भाय चित्त हुलसाय के।
तिनके हों मंगल नित नये, अरु विघ्न जांय पलाय के।।

अर्थः- जिन्होंने भी जिनेन्द्र भगवान की शरण ली उन सब ही जीवों की शुभ गति हुई और पुरुषार्थ की सिद्धि के उपाय से उन्हें उत्क ष्ट प्रयोजन मोक्ष की सिद्धि हुई। जो भी जीव इस बारहमासे को पढ़ते हैं और चित्त को उल्लसित करके इसकी भावना भाते हैं उनके नित्य ही नवीन मंगल होते हैं और विघ्न भाग जाते हैं।

अर्थः- १. गरम। २.बंदरों का समूह। ३.सूर्य।

अन्तिम दोहा

नित-नित नव मंगल बढ़ैं, पढैं जो यह गुणमाल।
सुर-नर के सुख भोगकर, पावैं मोक्ष रसाल[1]।।

अर्थः- जो जीव यह गुणमाल पढ़ते हैं उनके नित्य प्रति ही नवीन मंगल बढ़ते हैं और देव व मनुष्य पर्याय के सुख भोगकर वे उत्तम मोक्ष को पा लेते हैं।

रचि के पवित्र नैन

आनन्द भरत हूँ।

अन्तिम सवैया

दो हजार मांहि तें तिहत्तर घटाय अब,
विक्रम को संवत् विचार के धरत हूँ।
अगहन असित[2] त्रयोदशी म गांक वार[3],
अर्द्ध निशा मांहि याहि पूरण करत हूँ।
इति श्री वज्रदन्त चक्रवर्त्ति को व तन्त,
रचि के पवित्र नैन आनन्द भरत हूँ।
ज्ञानवन्त करो शुद्ध जान मेरी बाल बुद्ध,
दोष पे न रोष करो पांयन परत हूँ।।

अर्थः- विक्रम संवत् १६२७ के अगहन मास के क ष्ण पक्ष की त्रयोदशी के दिन वार सोमवार की आधी रात्रि में इसे पूर्ण कर रहा हूँ। इस वज्रदन्त चक्रवर्ती के पवित्र व त्तान्त को रचकर मेरे नेत्रों में आनन्द भर रहा है, ज्ञानीजन मेरी बालबुद्धि जानकर इसे शुद्ध करें और इसमें होने वाले दोषों पर रोष न करें, मैं उनके पैरों में पड़ता हूँ।

दोष पे न रोष करो

पांयन परत हूँ।

अर्थः- १.सुन्दर, उत्तम।
२.क ष्ण। ३.सोमवार।

इति श्री वज्रदन्त चक्रवर्ती का बारहमासा सम्पूर्ण हुआ।।

अथ
चित्रावली

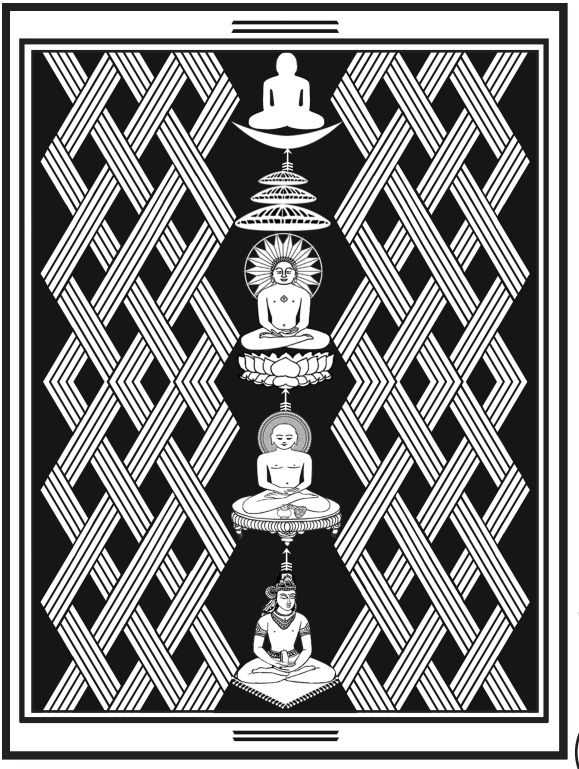

अनित्य १
अशरण २
संसार ३
एकत्व ४
अन्यत्व ५
अशुचि ६

आस्रव ७
संवर ८
निर्जरा ९
लोक १०
बोधि दुर्लभ ११
धर्म १२

वज्रदंत चक्रेश की, कथा सुनो मन लाय।
कर्म काट शिवपुर गये बारह भावन भाय।।

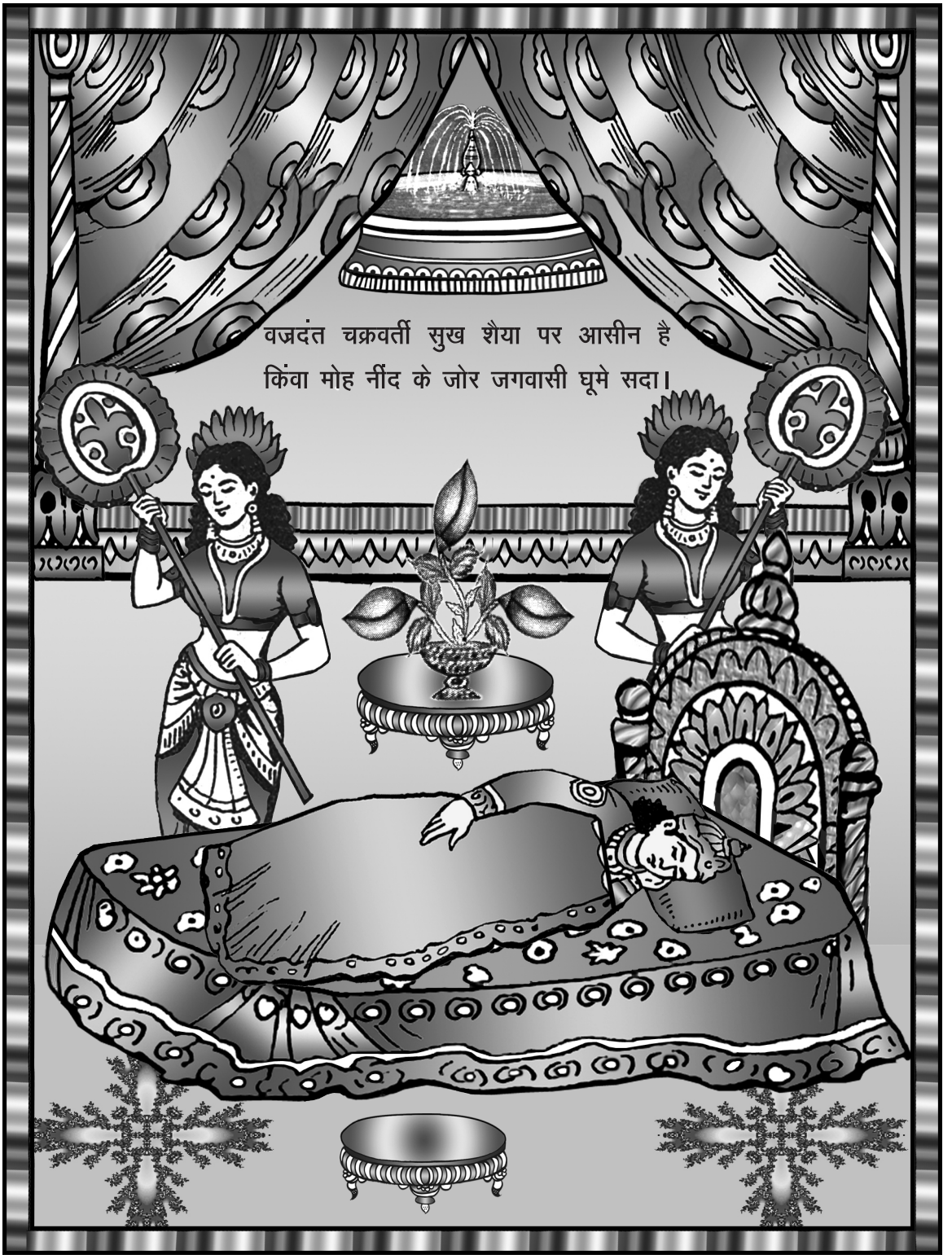
वज्रदंत चक्रवर्ती सुख शैया पर आसीन है
किंवा मोह नींद के जोर जगवासी घूमे सदा।

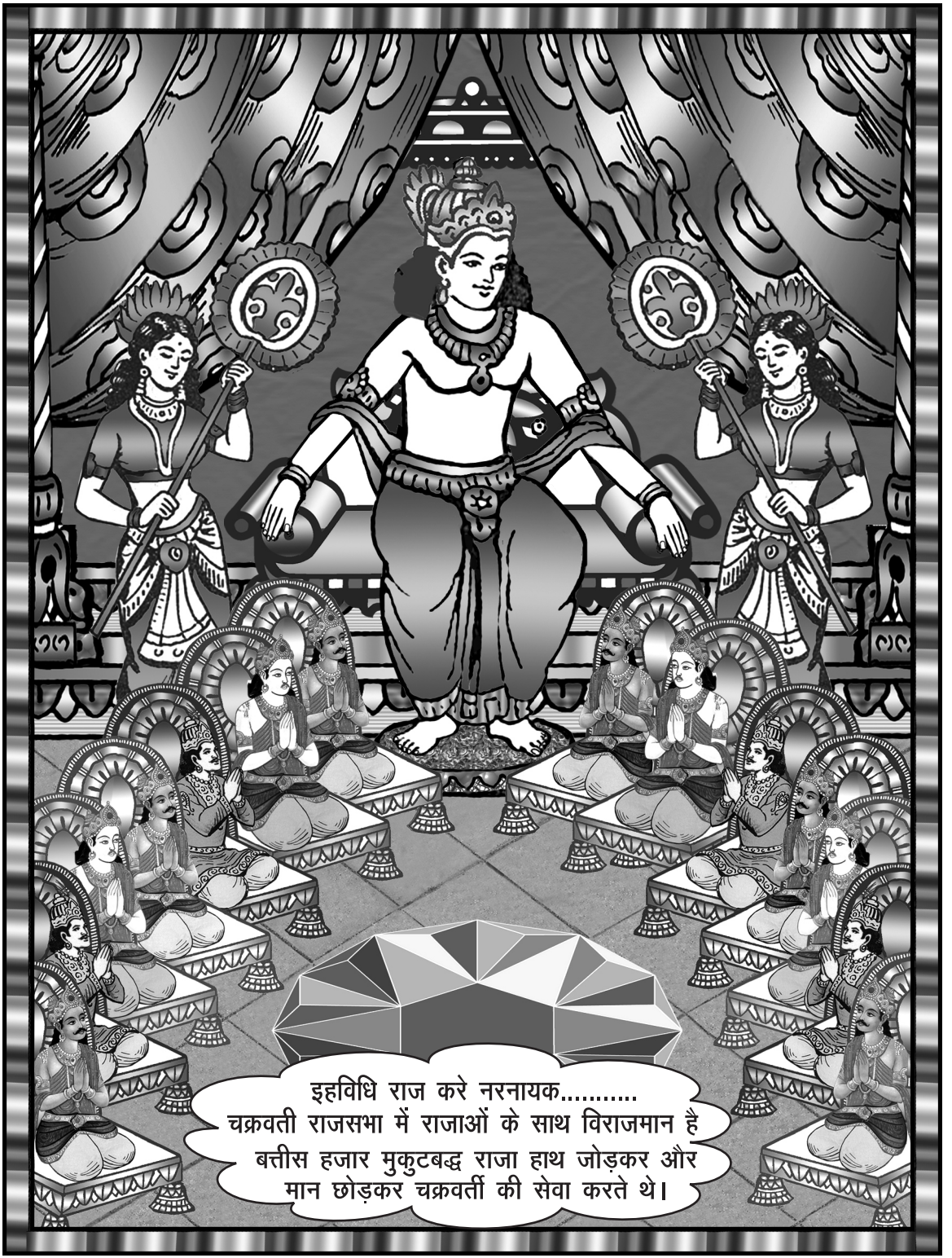
इहविधि राज करे नरनायक.....
चक्रवती राजसभा में राजाओं के साथ विराजमान है
बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा हाथ जोड़कर और
मान छोड़कर चक्रवर्ती की सेवा करते थे।

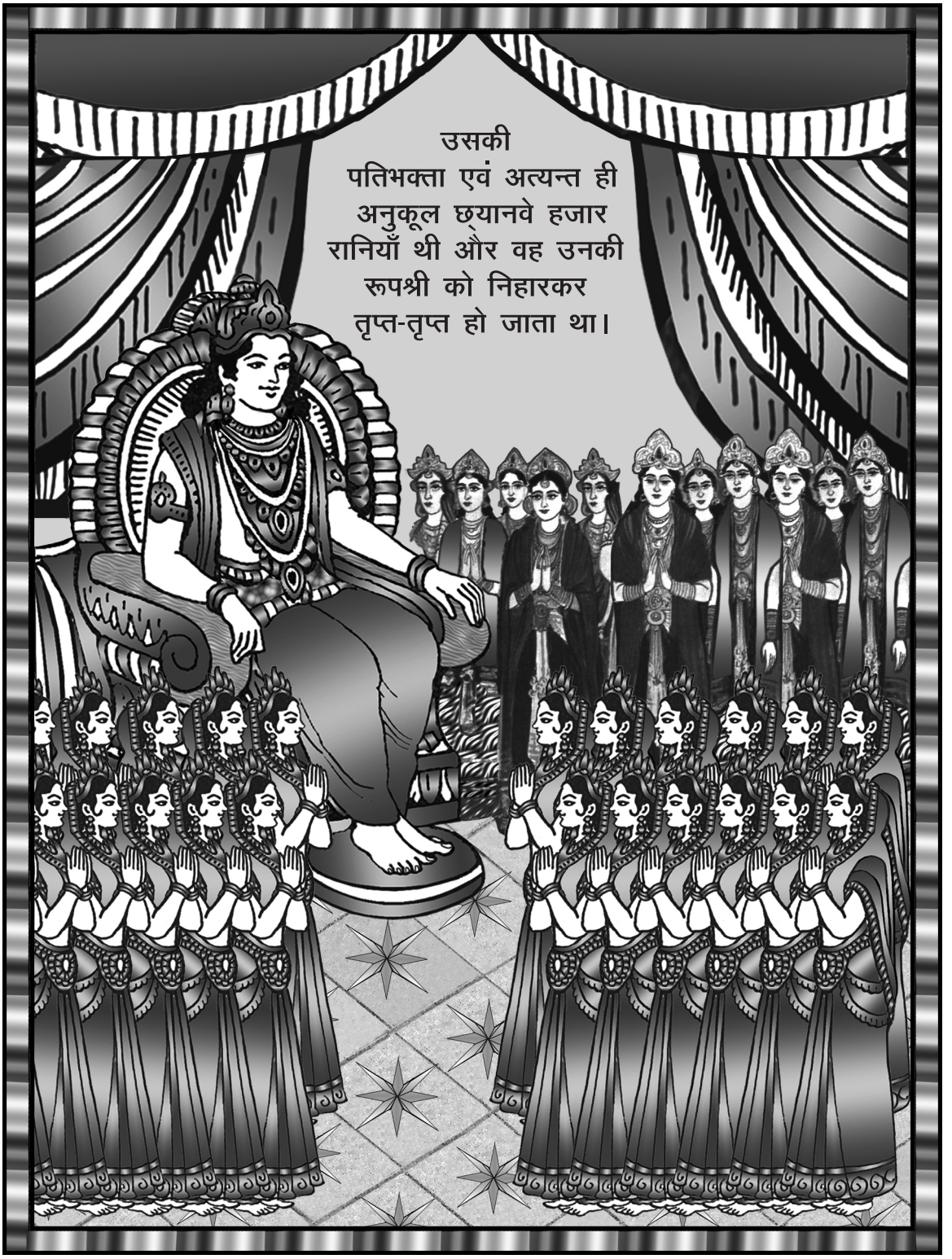
उसकी
पतिभक्ता एवं अत्यन्त ही
अनुकूल छ्यानवे हजार
रानियाँ थी और वह उनकी
रूपश्री को निहारकर
तृप्त-तृप्त हो जाता था।

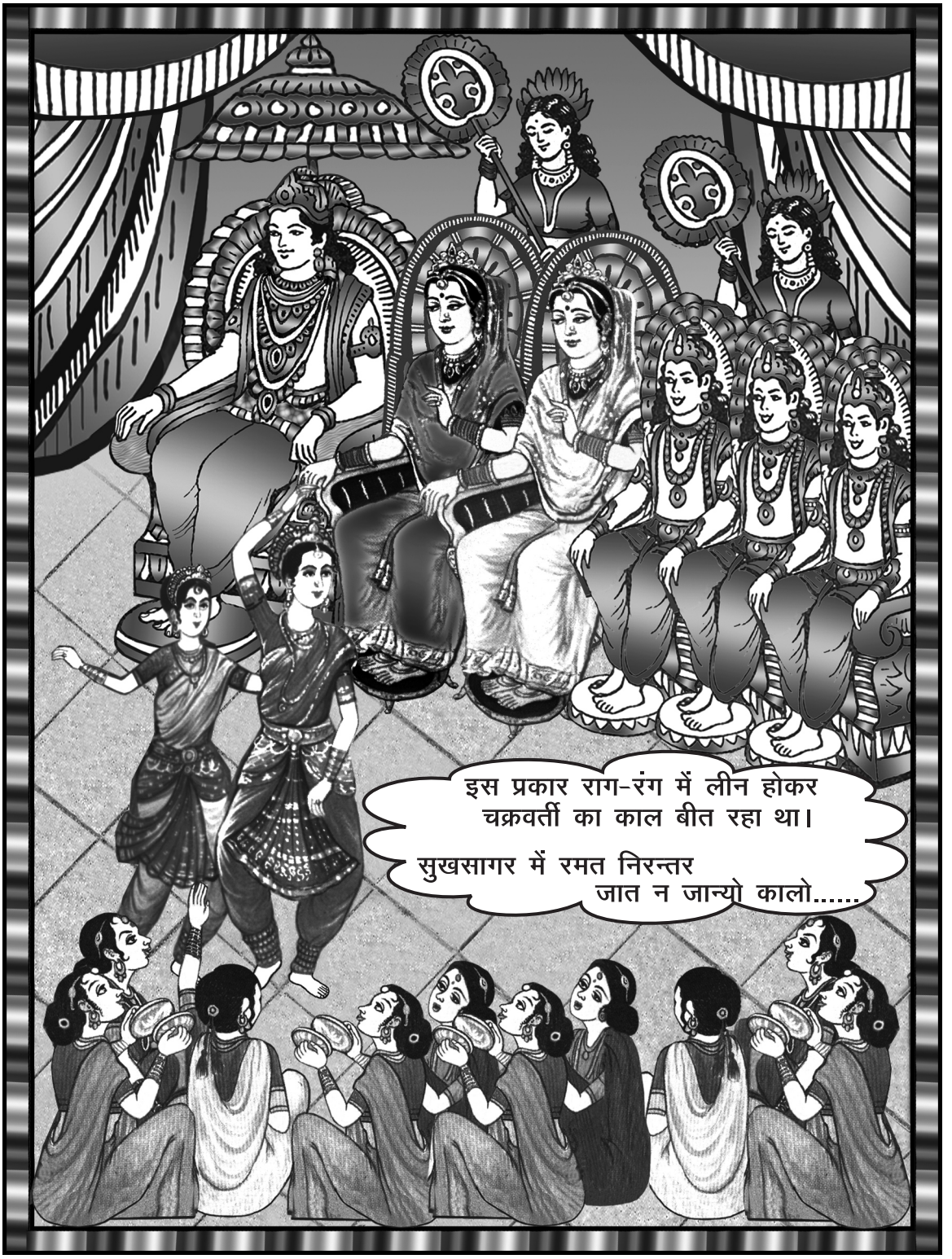
इस प्रकार राग-रंग में लीन होकर
चक्रवर्ती का काल बीत रहा था।
सुखसागर में रमत निरन्तर
जात न जान्यो कालो.....

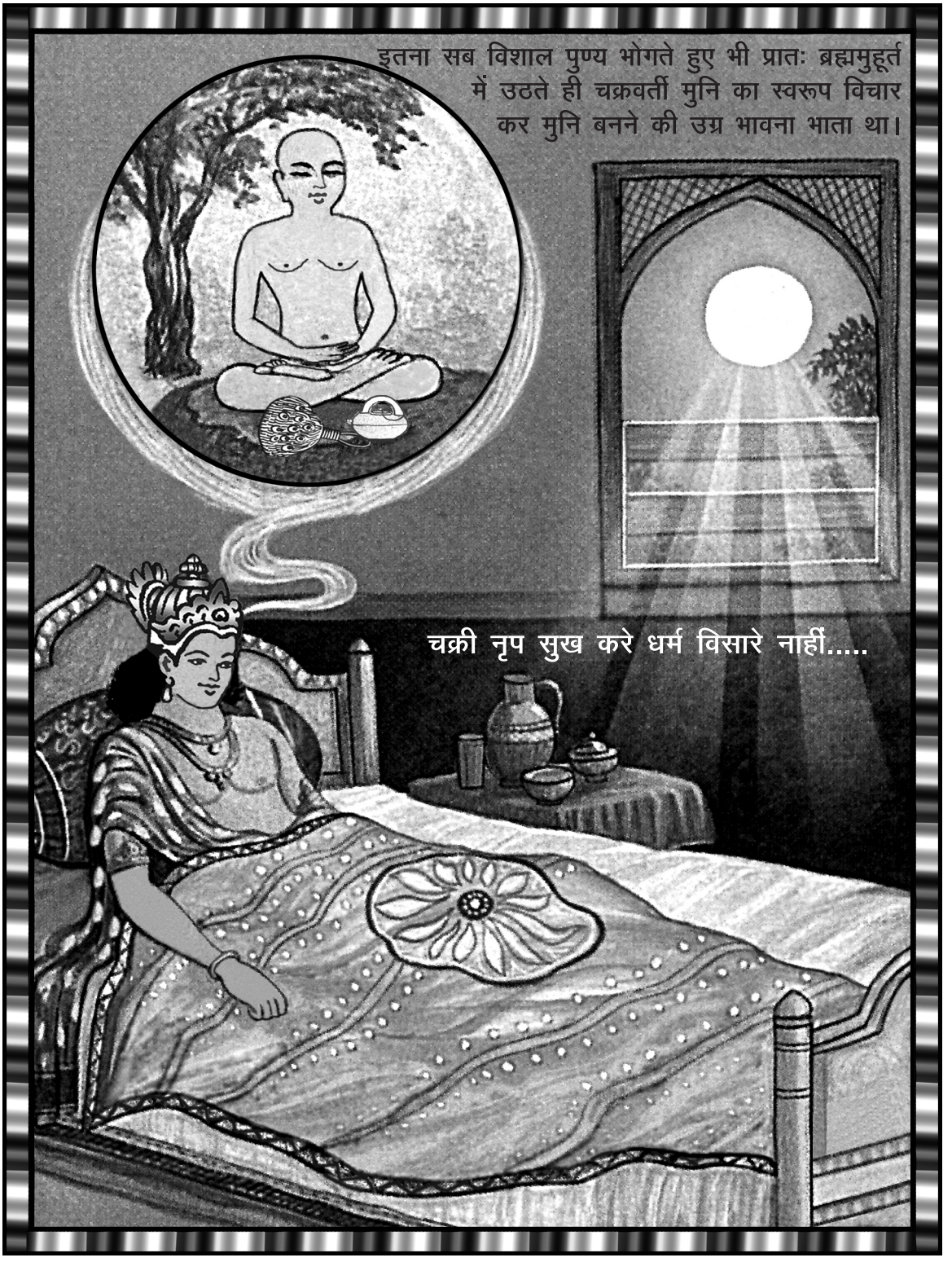
इतना सब विशाल पुण्य भोगते हुए भी प्रातः ब्रह्ममुहूर्त
में उठते ही चक्रवर्ती मुनि का स्वरूप विचार
कर मुनि बनने की उग्र भावना भाता था।
चक्री नृप सुख करे धर्म विसारे नाहीं.....

दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर कभी वह अपने पुत्रों के साथ चैत्यवंदना को जाता था।

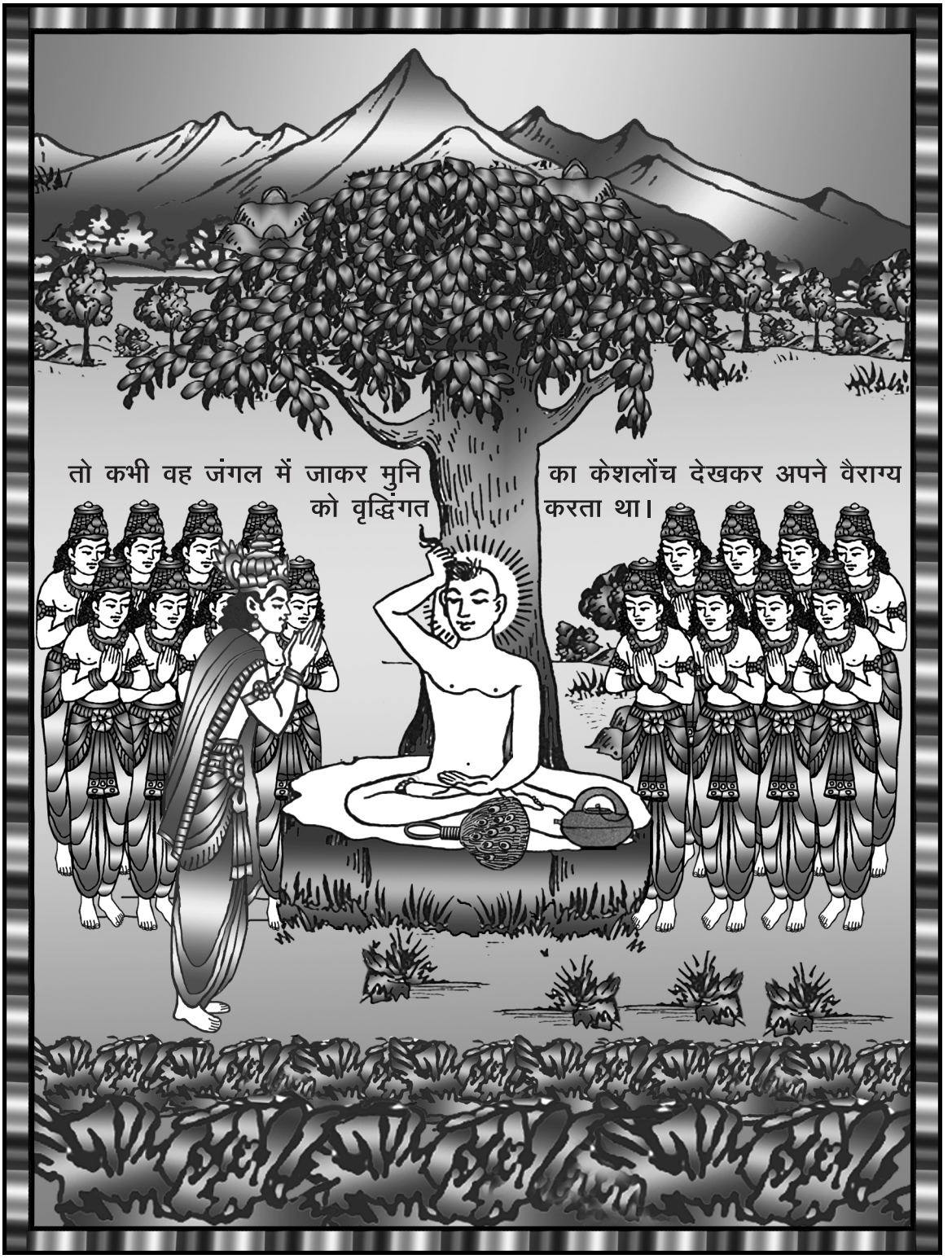
तो कभी वह जंगल में जाकर मुनि
का केशलोंच देखकर अपने वैराग्य
को वृद्धिंगत
करता था।

सुमेरु पर्वत के चैत्यालयों में
उसकी प्रगाढ़ भक्ति थी।

प्रभु दर्शन के बाद 'स्वाध्याय परमं तपः' ऐसा विचारकर
श्रुतभक्ति करके वह स्वाध्याय में लीन हो जाता था।

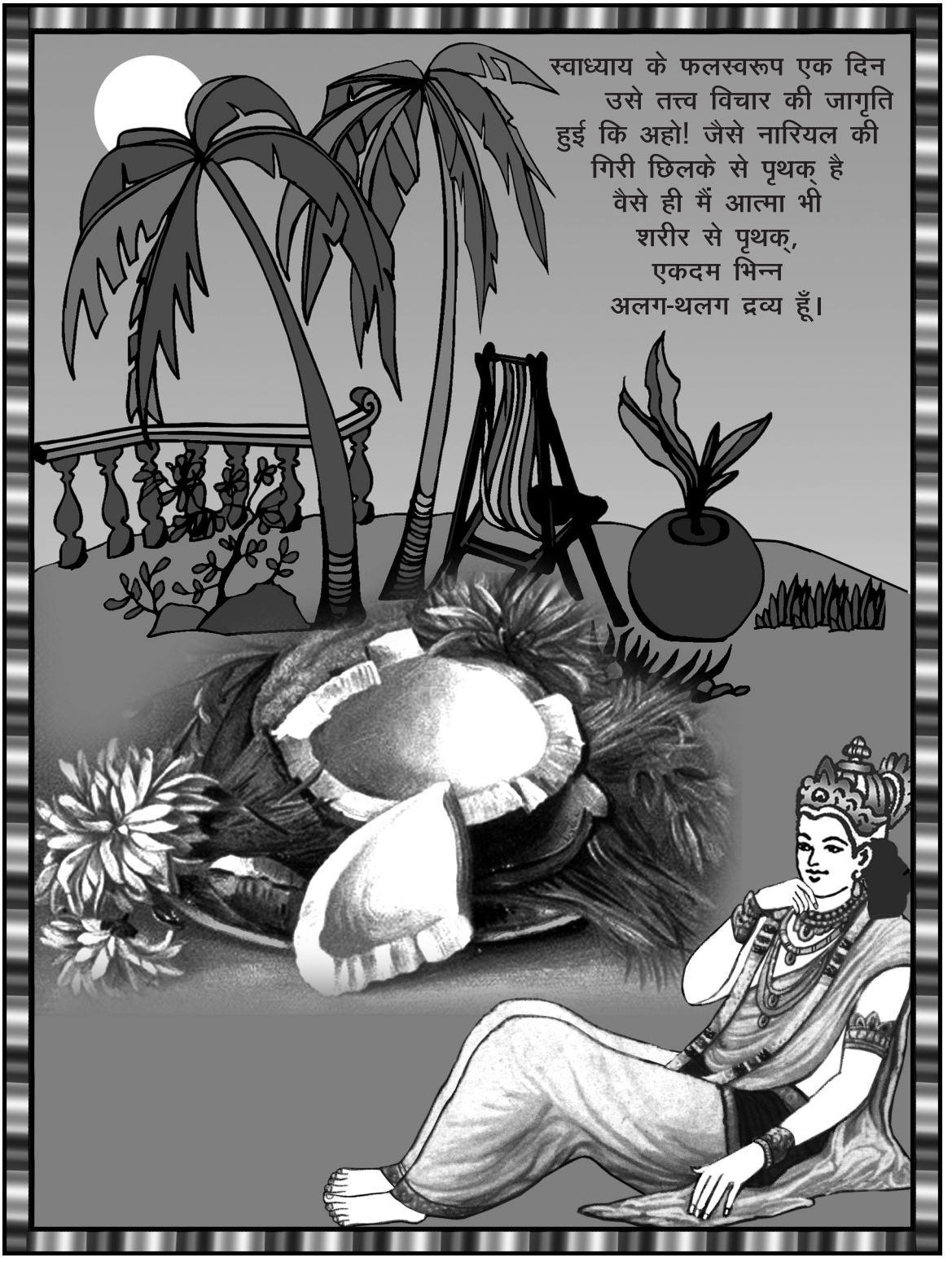
स्वाध्याय के फलस्वरूप एक दिन
उसे तत्त्व विचार की जागृति
हुई कि अहो! जैसे नारियल की
गिरी छिलके से पृथक् है
वैसे ही मैं आत्मा भी
शरीर से पृथक्,
एकदम भिन्न
अलग-थलग द्रव्य हूँ।

तत्त्व-विचारादि से
तत्त्व निर्णीत होकर
चक्रवर्ती को निजस्वरूप
का ध्यान सधा और
उसकी चिंतनधारा वैराग्य मार्ग पर अत्यंत केन्द्रित हो गई।

एक बार इस प्रकार संसार का स्वरूप विचारते हुए
उसने आत्म हित की अत्यंत दृढ़ता की
कि 'यह संसार चतुर्गतिमय है।
इसके चक्र से निकलना बहुत कठिन है।'

ये संसार महावन भीतर भ्रमते ओर ना आवे.....।
जामन मरण जरा दौं दाझे, जीव महा दुःख पावे।।

कबहुँ जाय नरक थिति भुंजै छेदन-भेदन भारी....

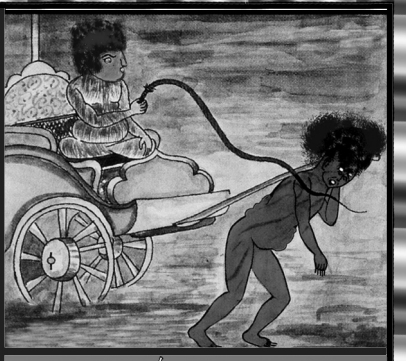

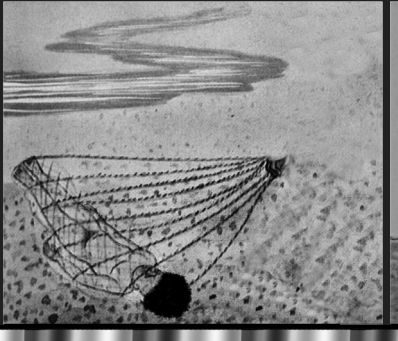

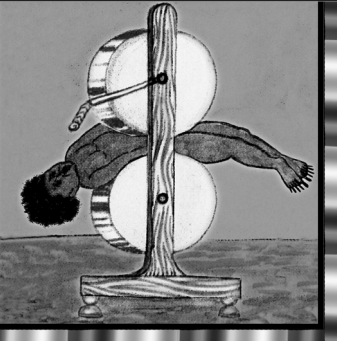

कबहुँ पशु परजाय धरे तहँ वध-बंधन भयकारी.....

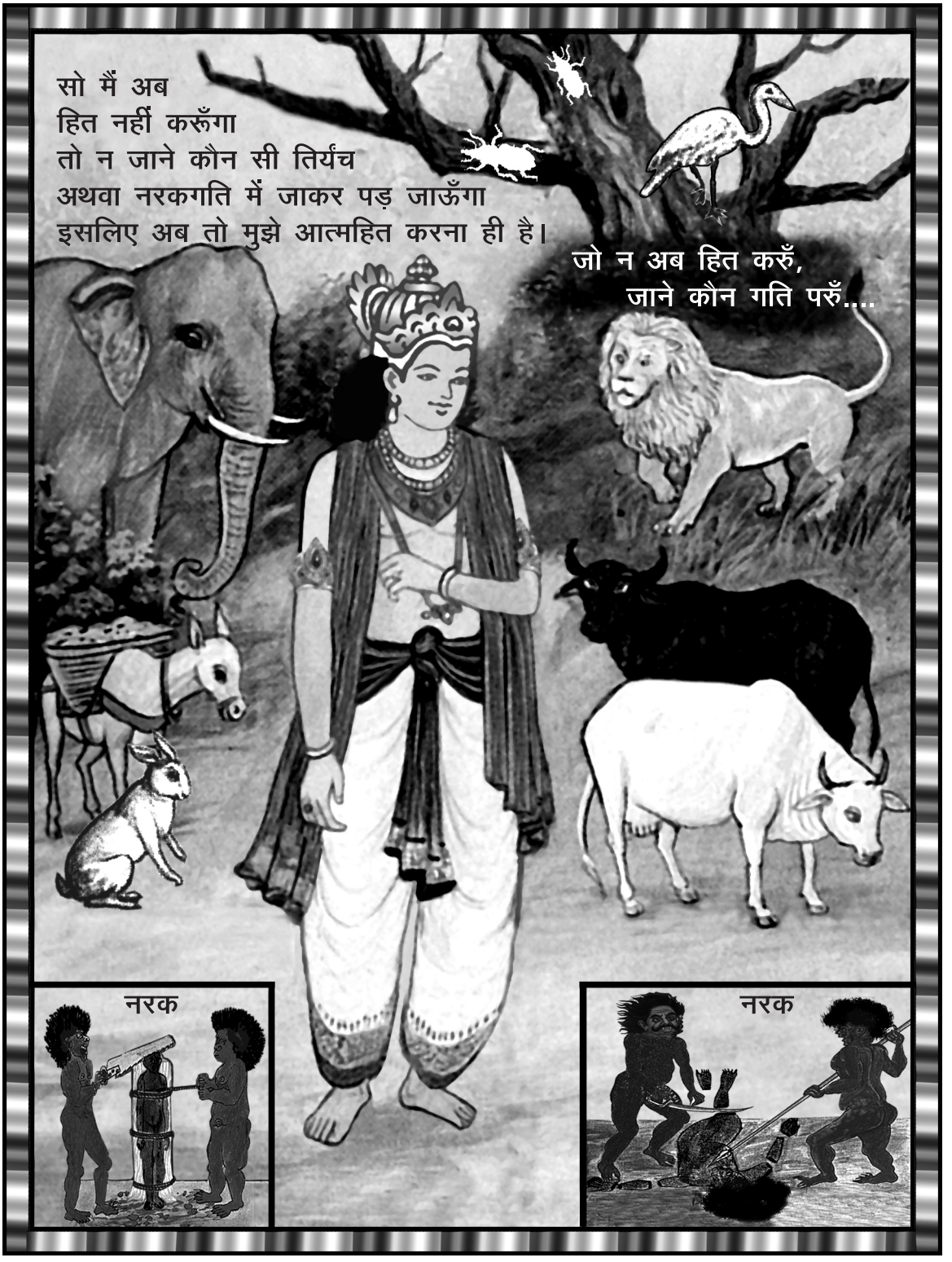
सो मैं अब
हित नहीं करूँगा
तो न जाने कौन सी तिर्यंच
अथवा नरकगति में जाकर पड़ जाऊँगा
इसलिए अब तो मुझे आत्महित करना ही है।
जो न अब हित करुँ,
जाने कौन गति परुँ....
नरक
नरक

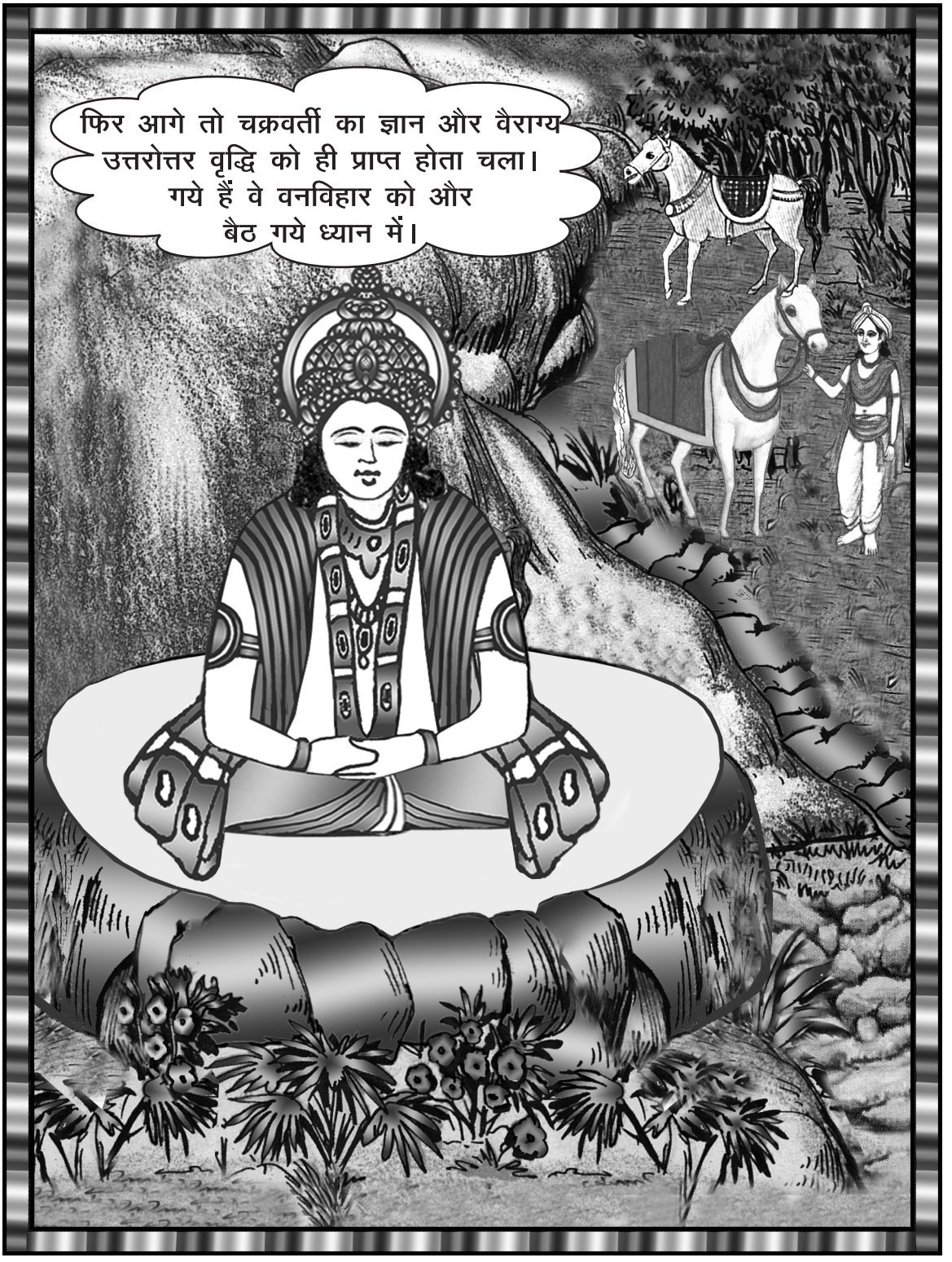
फिर आगे तो चक्रवर्ती का ज्ञान और वैराग्य
उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होता चला।
गये हैं वे वनविहार को और
बैठ गये ध्यान में।

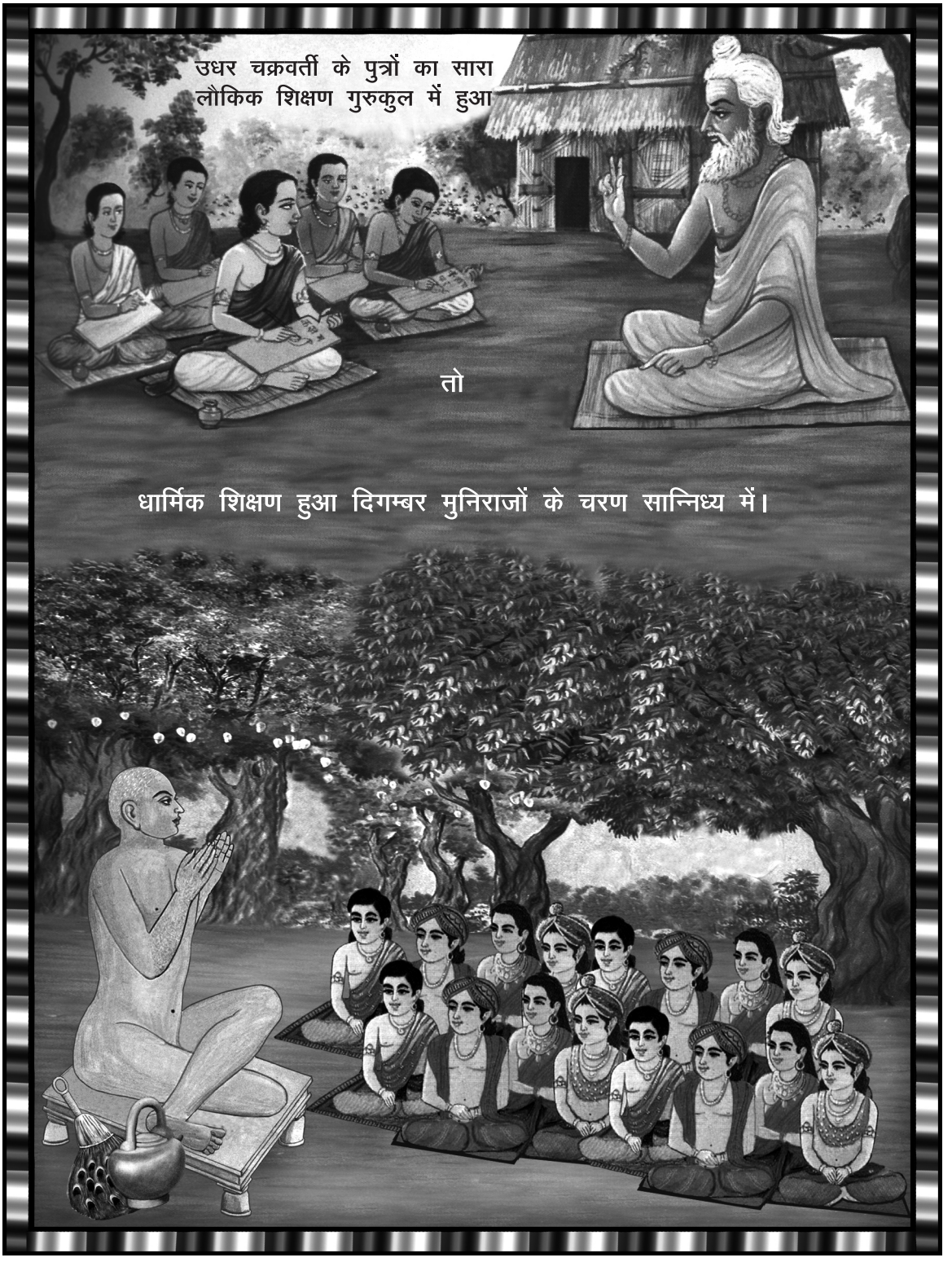
उधर चक्रवर्ती के पुत्रों का सारा
लौकिक शिक्षण गुरुकुल में हुआ
तो
धार्मिक शिक्षण हुआ दिगम्बर मुनिराजों के चरण सान्निध्य में।

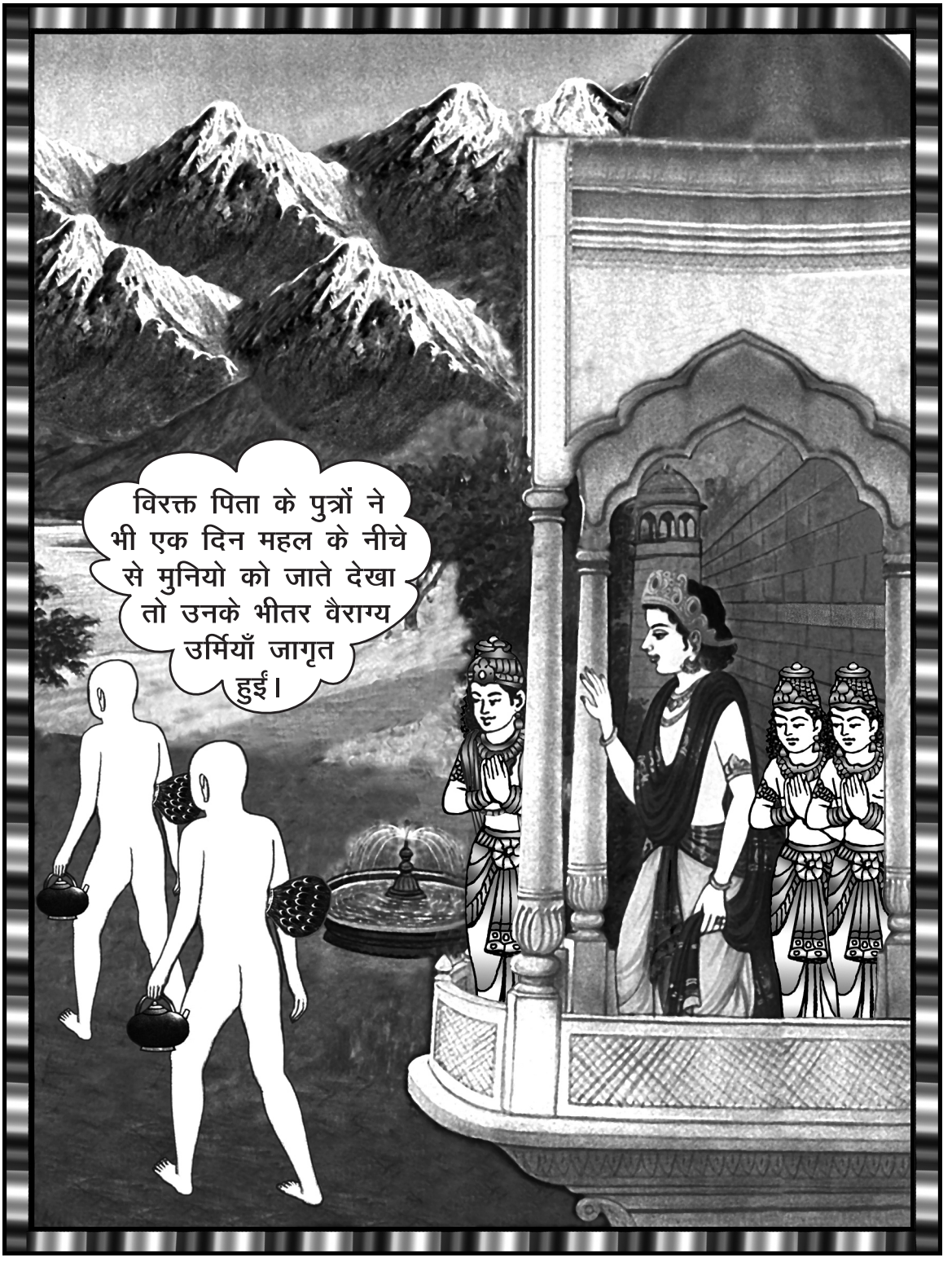
विरक्त पिता के पुत्रों ने भी एक दिन महल के नीचे से मुनियो को जाते देखा तो उनके भीतर वैराग्य उर्मियाँ जागृत हुईं।

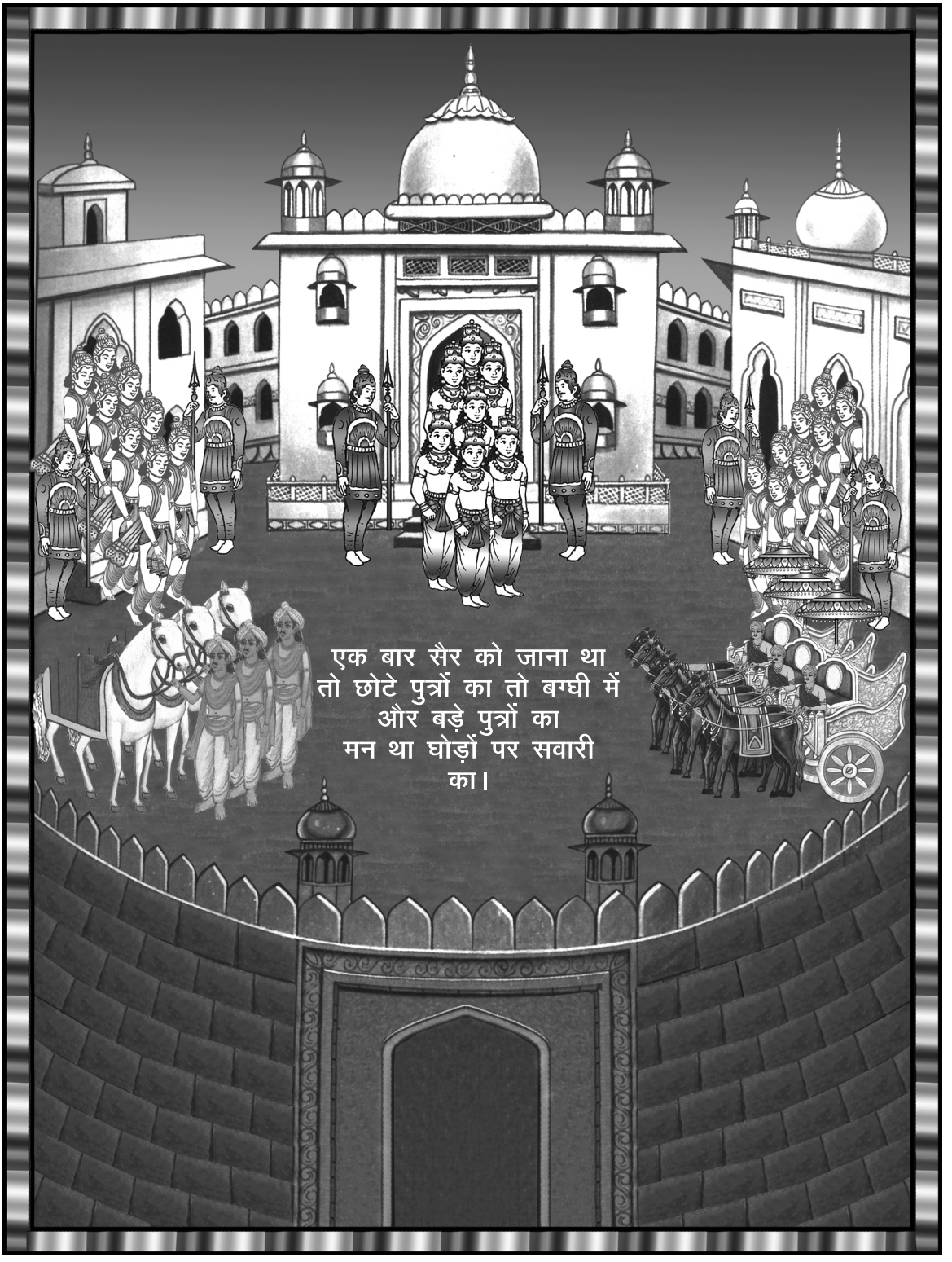
एक बार सैर को जाना था
तो छोटे पुत्रों का तो बग्घी में
और बड़े पुत्रों का
मन था घोड़ों पर सवारी
का।

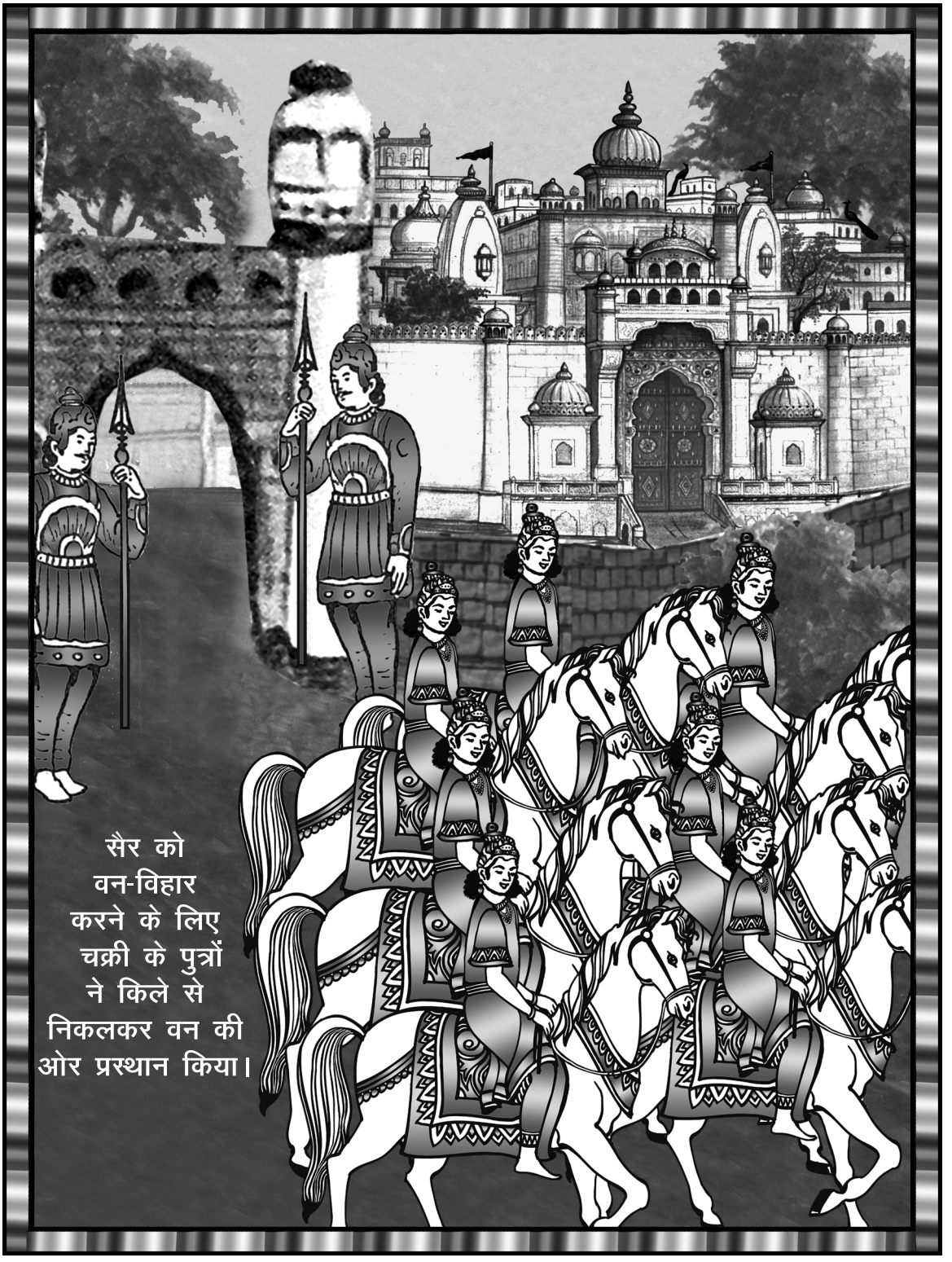

सैर को
वन-विहार
करने के लिए
चक्री के पुत्रों
ने किले से
निकलकर वन की
ओर प्रस्थान किया।

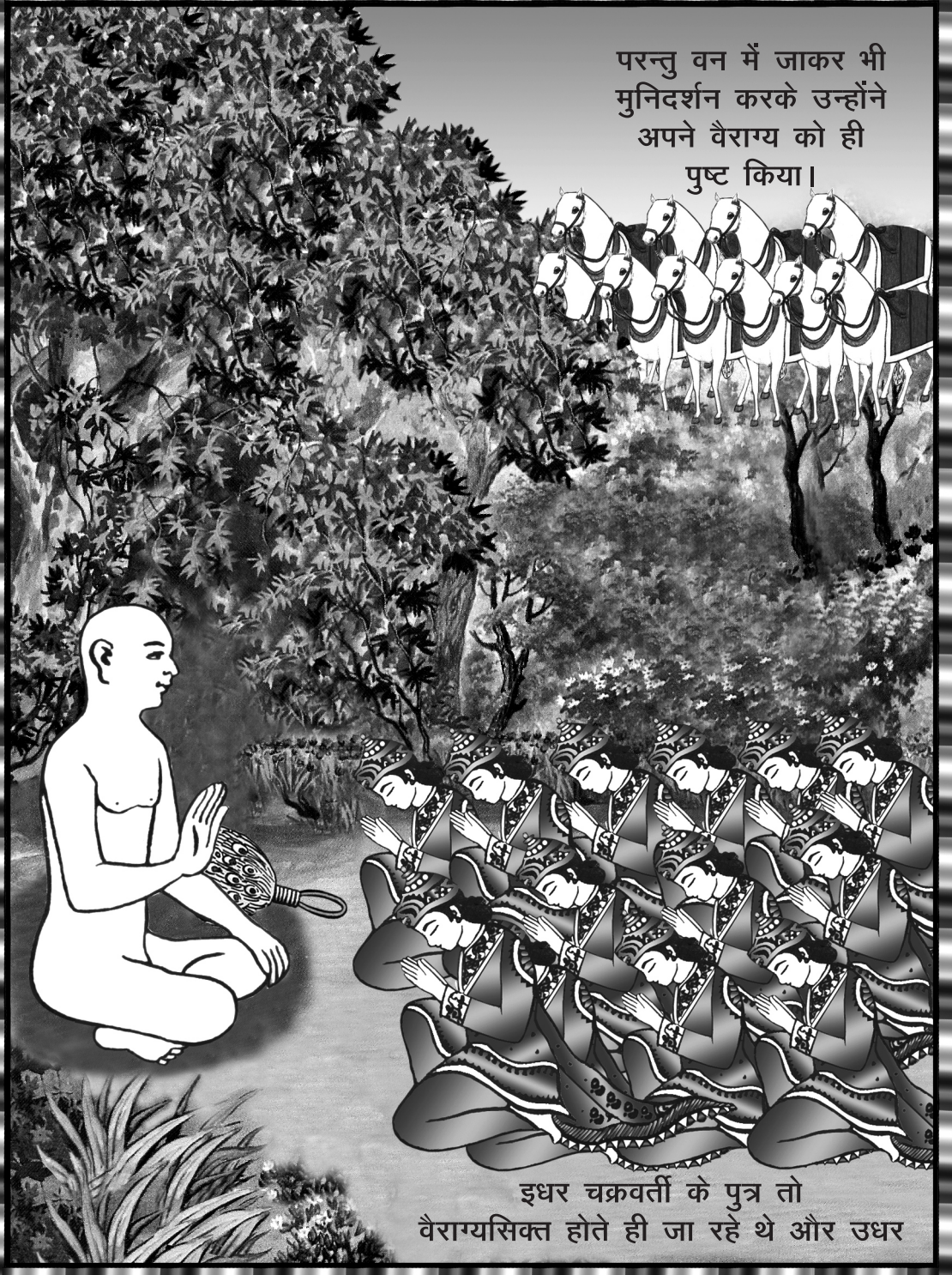
परन्तु वन में जाकर भी
मुनिदर्शन करके उन्होंने
अपने वैराग्य को ही
पुष्ट किया।
इधर चक्रवर्ती के पुत्र तो
वैराग्यसिक्त होते ही जा रहे थे और उधर

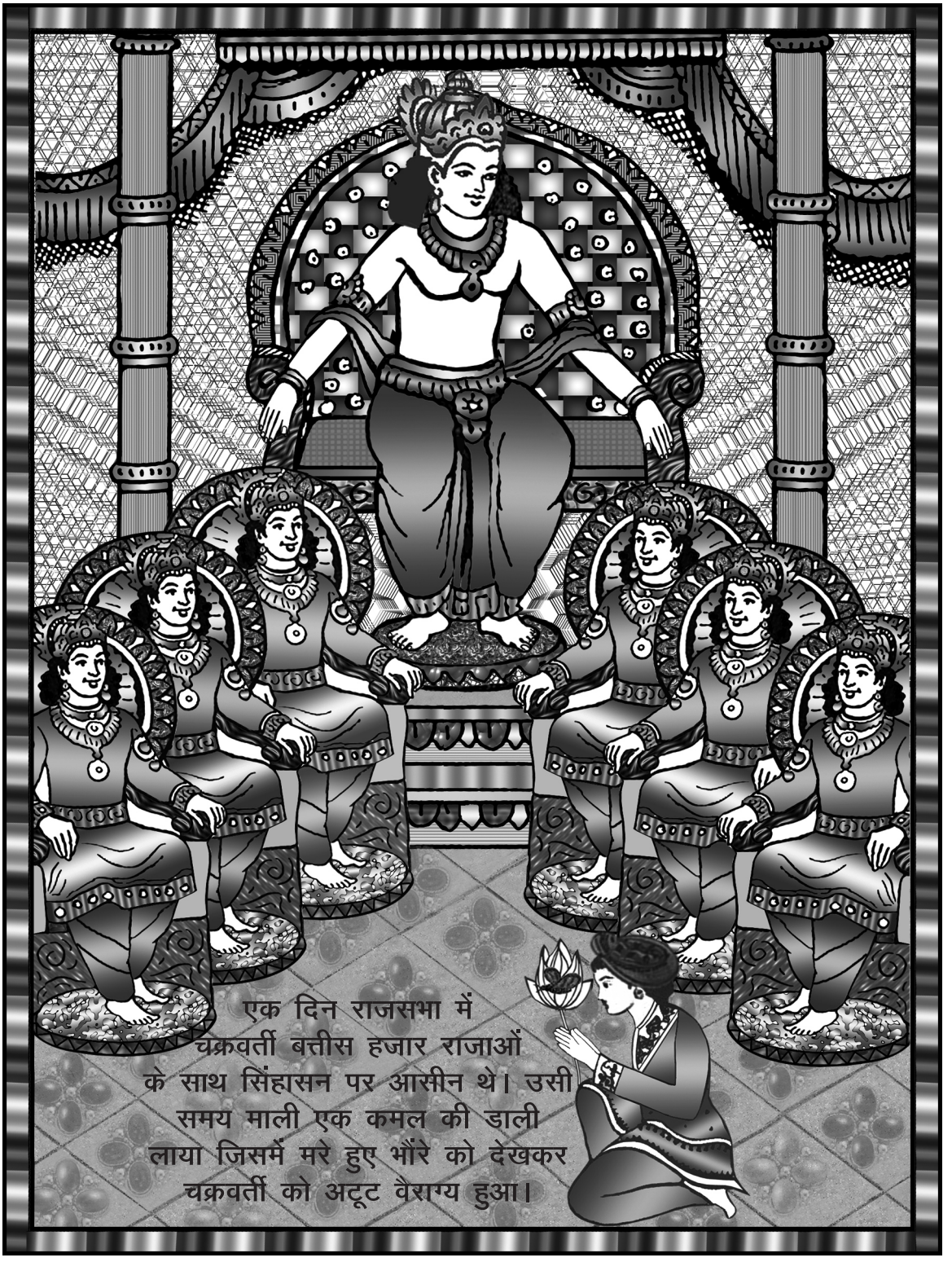
एक दिन राजसभा में
चक्रवर्ती बत्तीस हजार राजाओं
के साथ सिंहासन पर आसीन थे। उसी
समय माली एक कमल की डाली
लाया जिसमें मरे हुए भौंरे को देखकर
चक्रवर्ती को अटूट वैराग्य हुआ।

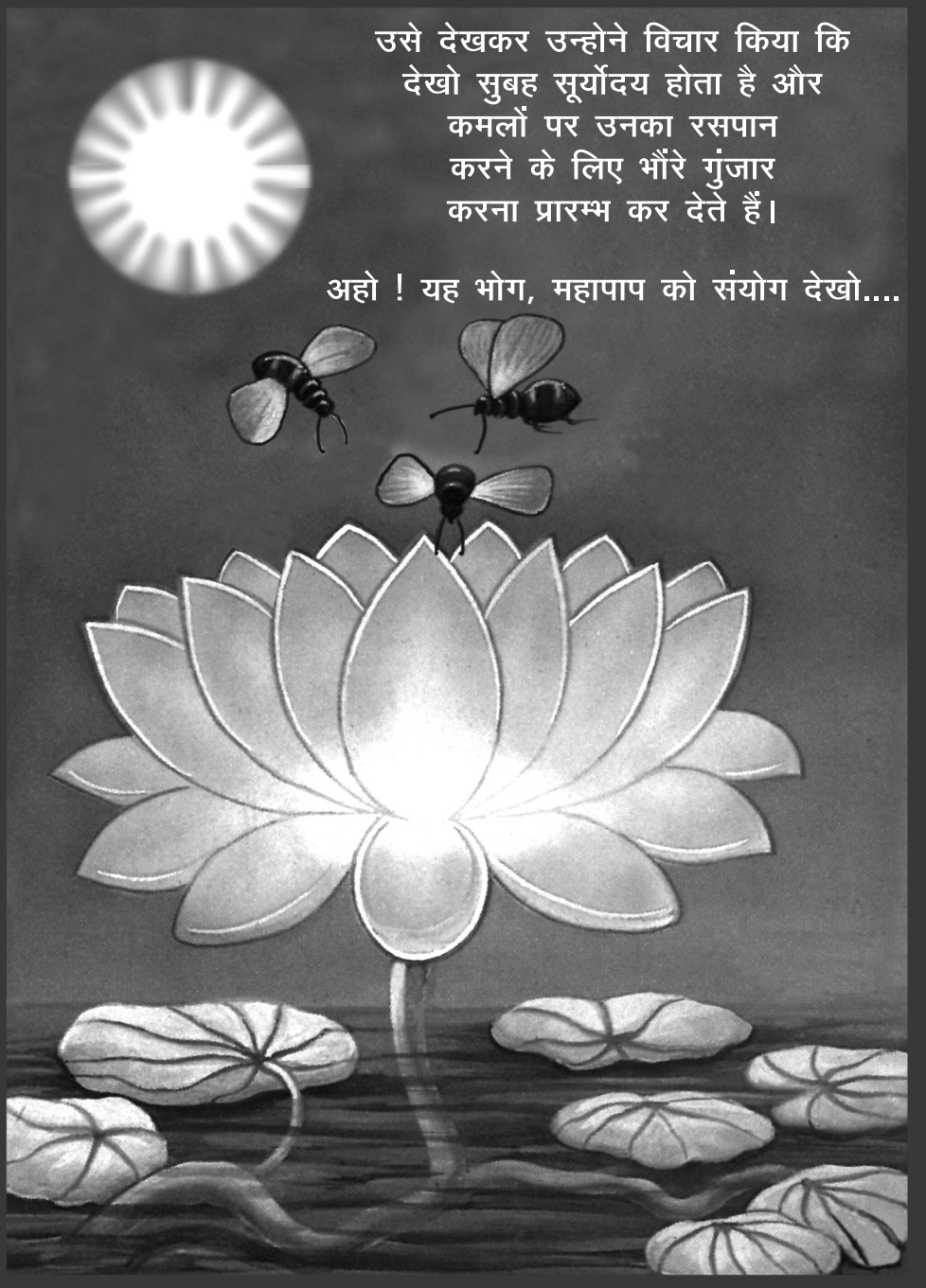
उसे देखकर उन्होने विचार किया कि
देखो सुबह सूर्योदय होता है और
कमलों पर उनका रसपान
करने के लिए भौंरे गुंजार
करना प्रारम्भ कर देते हैं।
अहो ! यह भोग, महापाप को संयोग देखो....

....डाली में कमल तामें भौंरा प्राण हरे है।
नासिका के हेतु भयो भोग में अचेत सारी,
रैन के कलाप में विलाप इन करे है।।

ओह ! यह एक भ्रमर कमल में
इतना रसासक्त कि रात्रि होने पर भी
इसे उड़ने की होश नहीं रही और
कमल के मुद्रित होने पर यह उसमें
ही बंद होकर अपने प्राण गँवा बैठा।

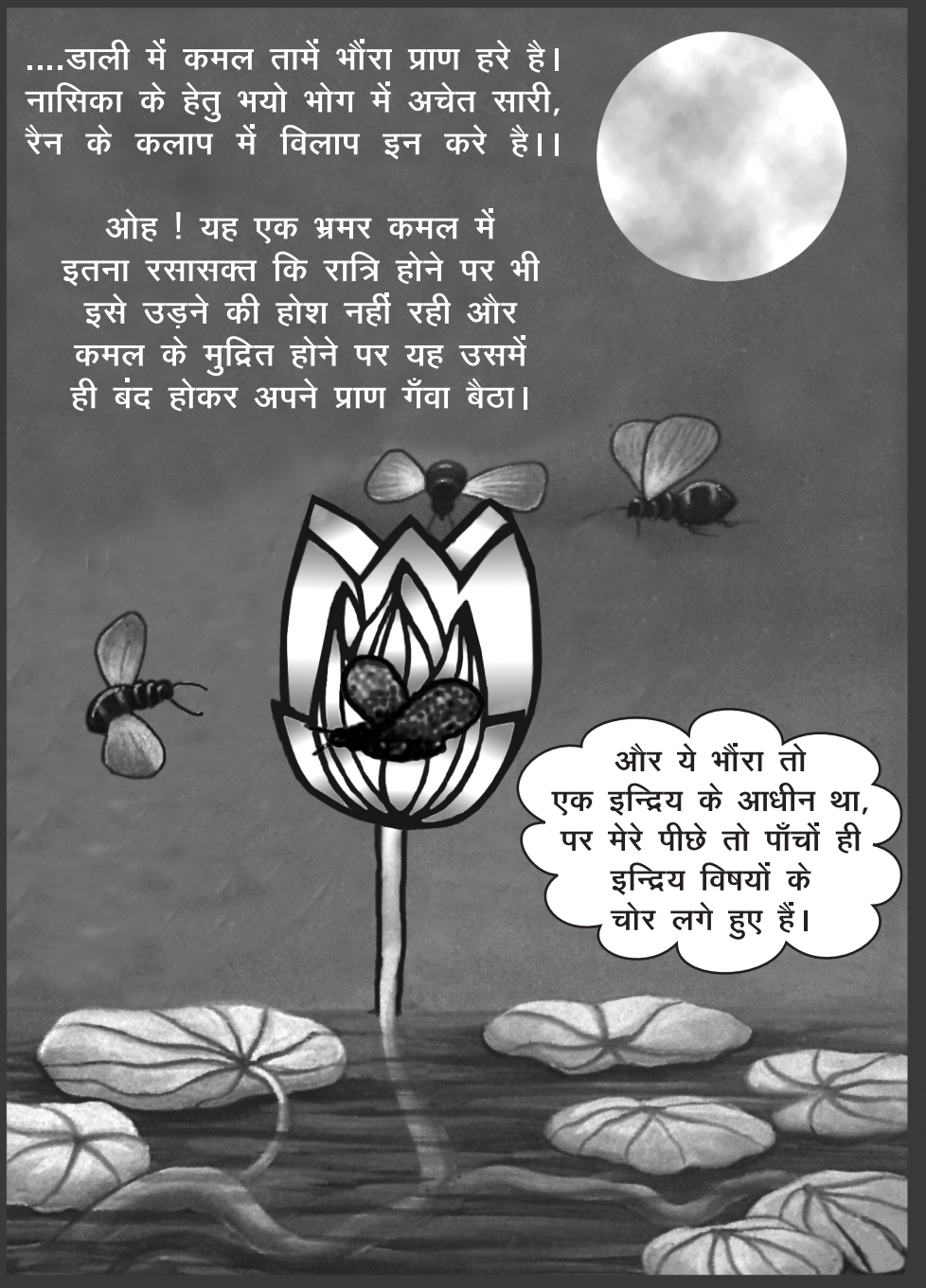

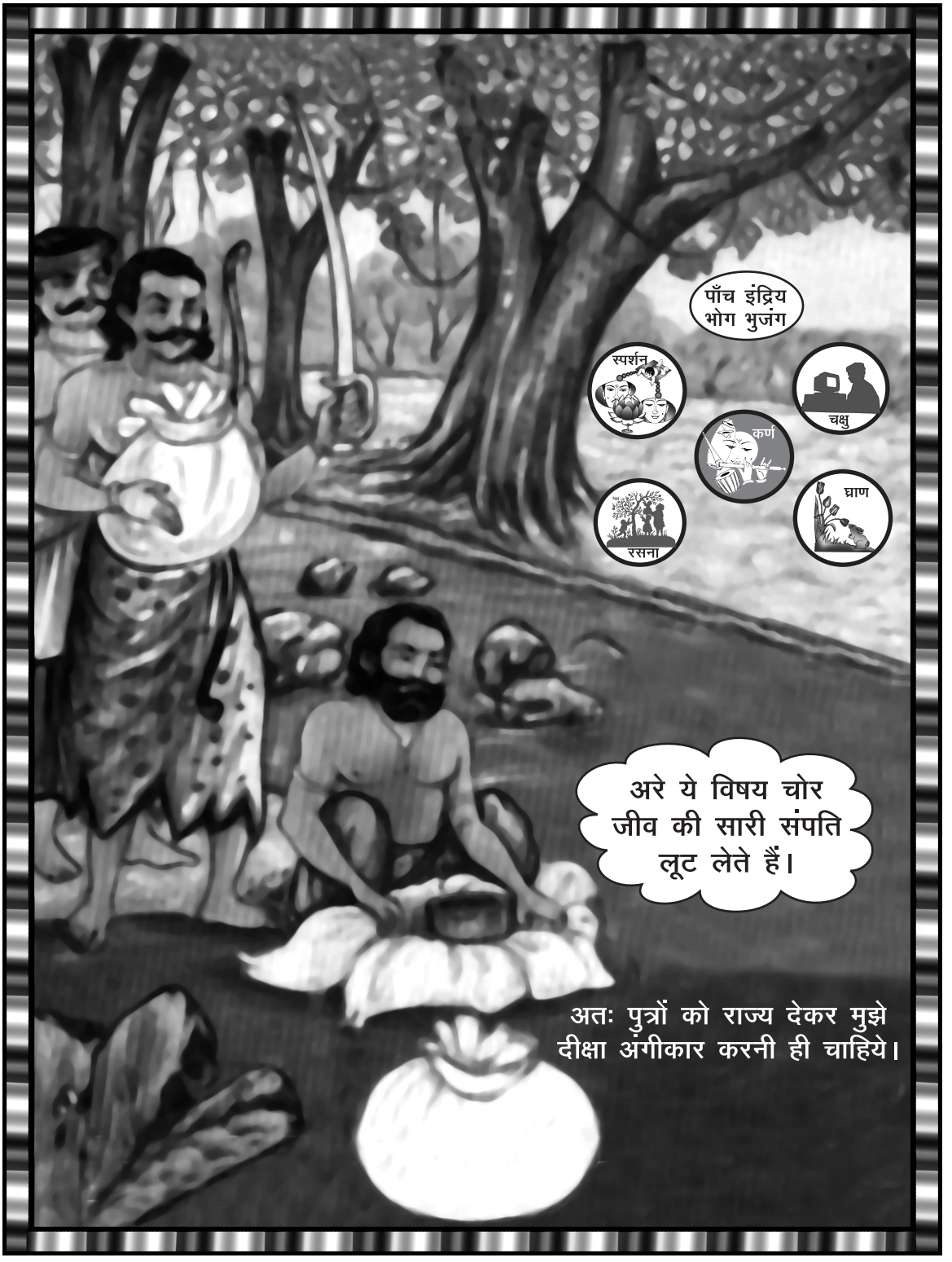
पाँच इंद्रिय
भोग भुजंग
स्पर्शन
चक्षु
कर्ण
घ्राण
रसना
अरे ये विषय चोर
जीव की सारी संपति
लूट लेते हैं।
अतः पुत्रों को राज्य देकर मुझे
दीक्षा अंगीकार करनी ही चाहिये।

चक्रवर्ती ने
दरबारी को पुत्रों
को बुला लाने का
आदेश दिया।

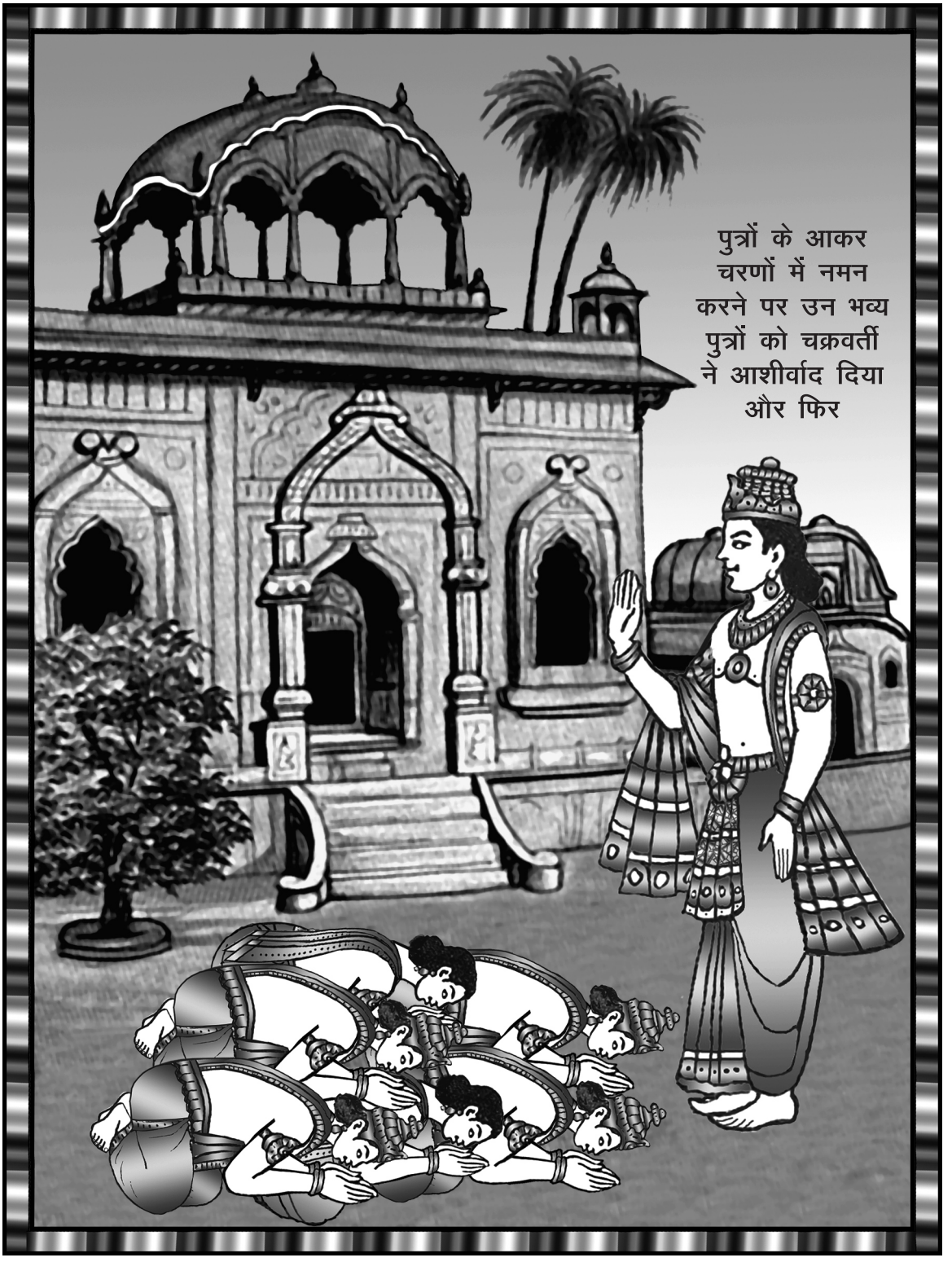
पुत्रों के आकर
चरणों में नमन
करने पर उन भव्य
पुत्रों को चक्रवर्ती
ने आशीर्वाद दिया
और फिर

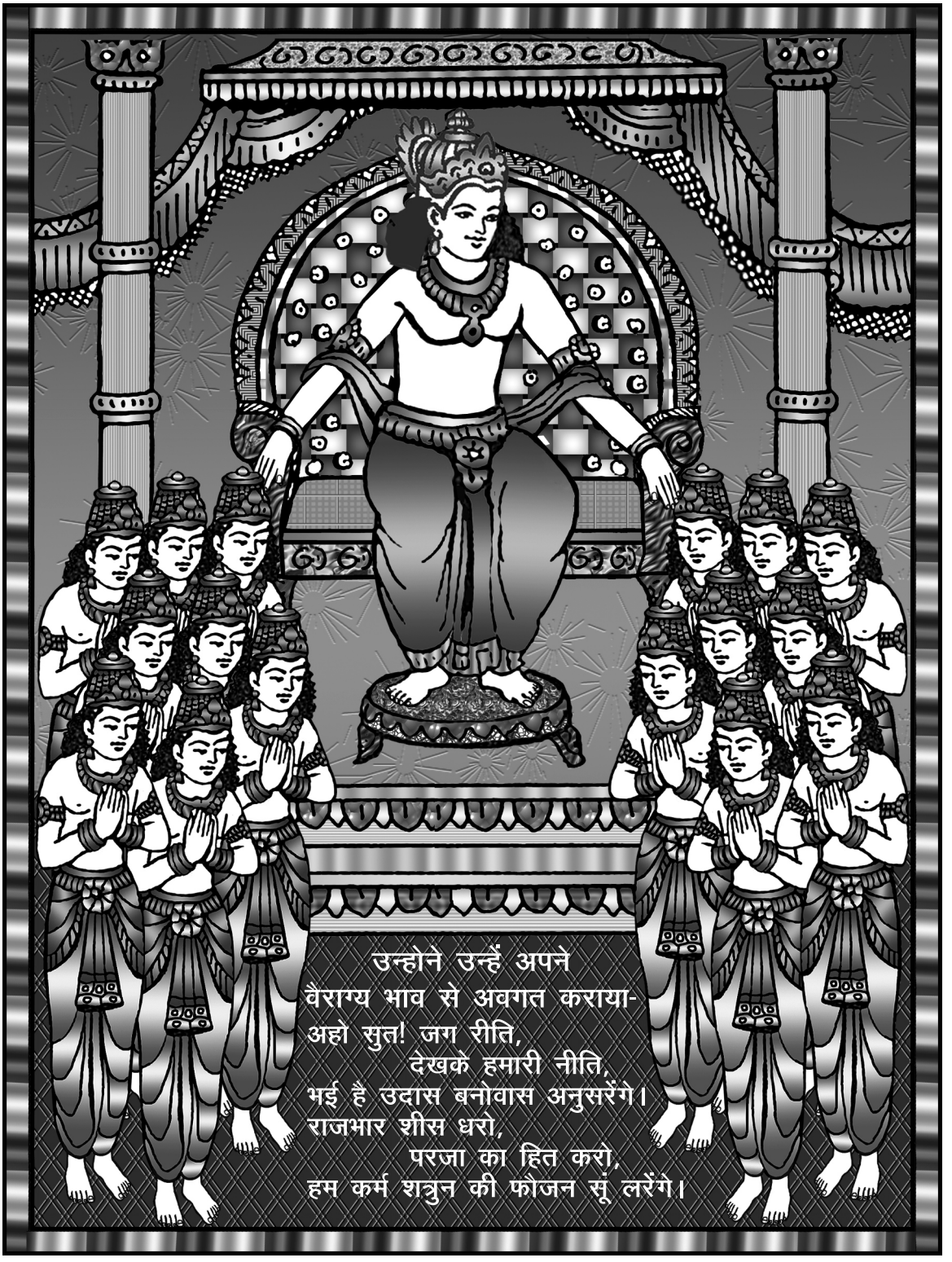
उन्होने उन्हें अपने
वैराग्य भाव से अवगत कराया-
अहो सुत! जग रीति,
देखके हमारी नीति,
भई है उदास बनोवास अनुसरेंगे।
राजभार शीस धरो,
परजा का हित करो,
हम कर्म शत्रुन की फौजन सूं लरेंगे।

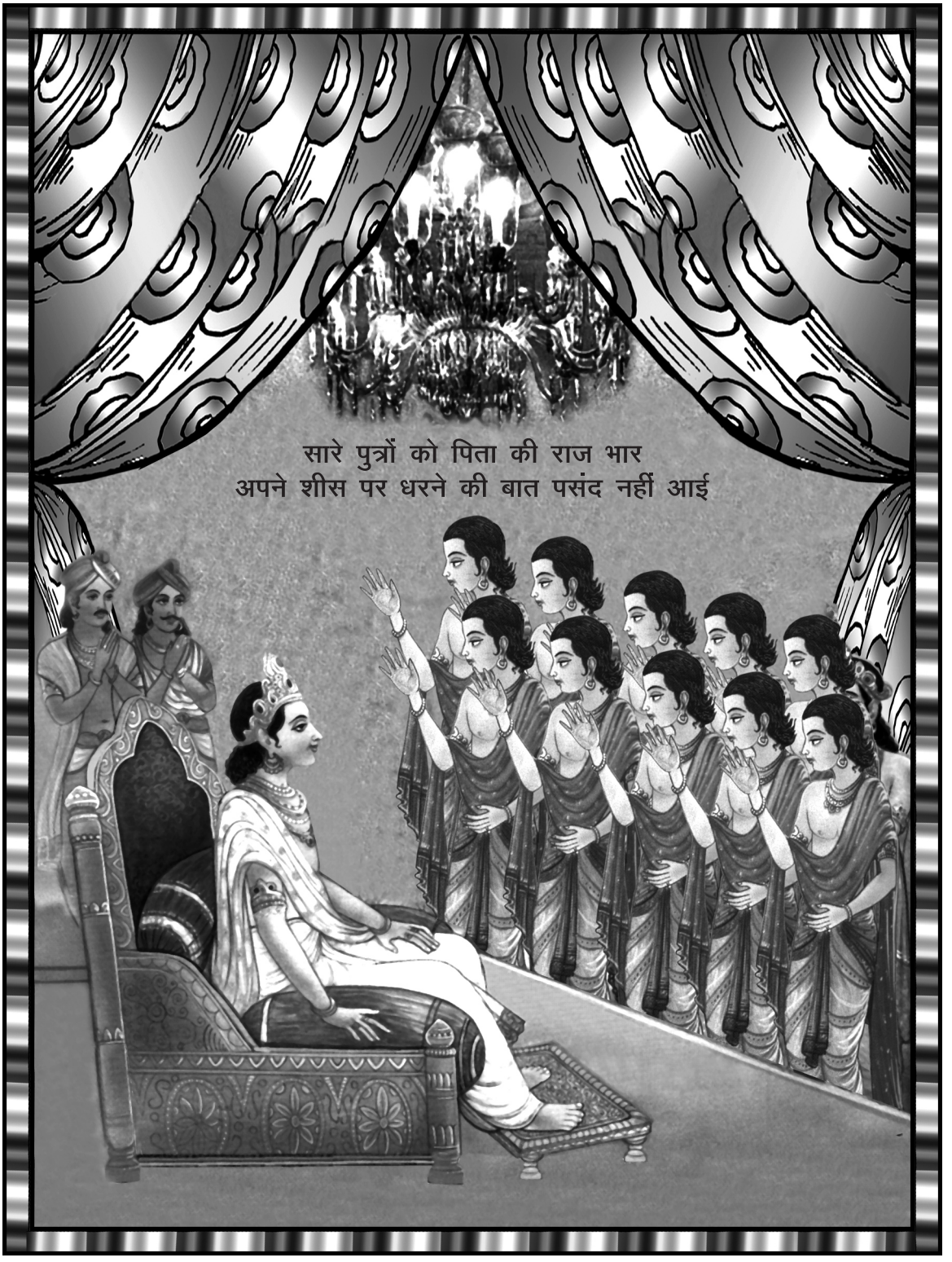
सारे पुत्रों को पिता की राज भार
अपने शीस पर धरने की बात पसंद नहीं आई

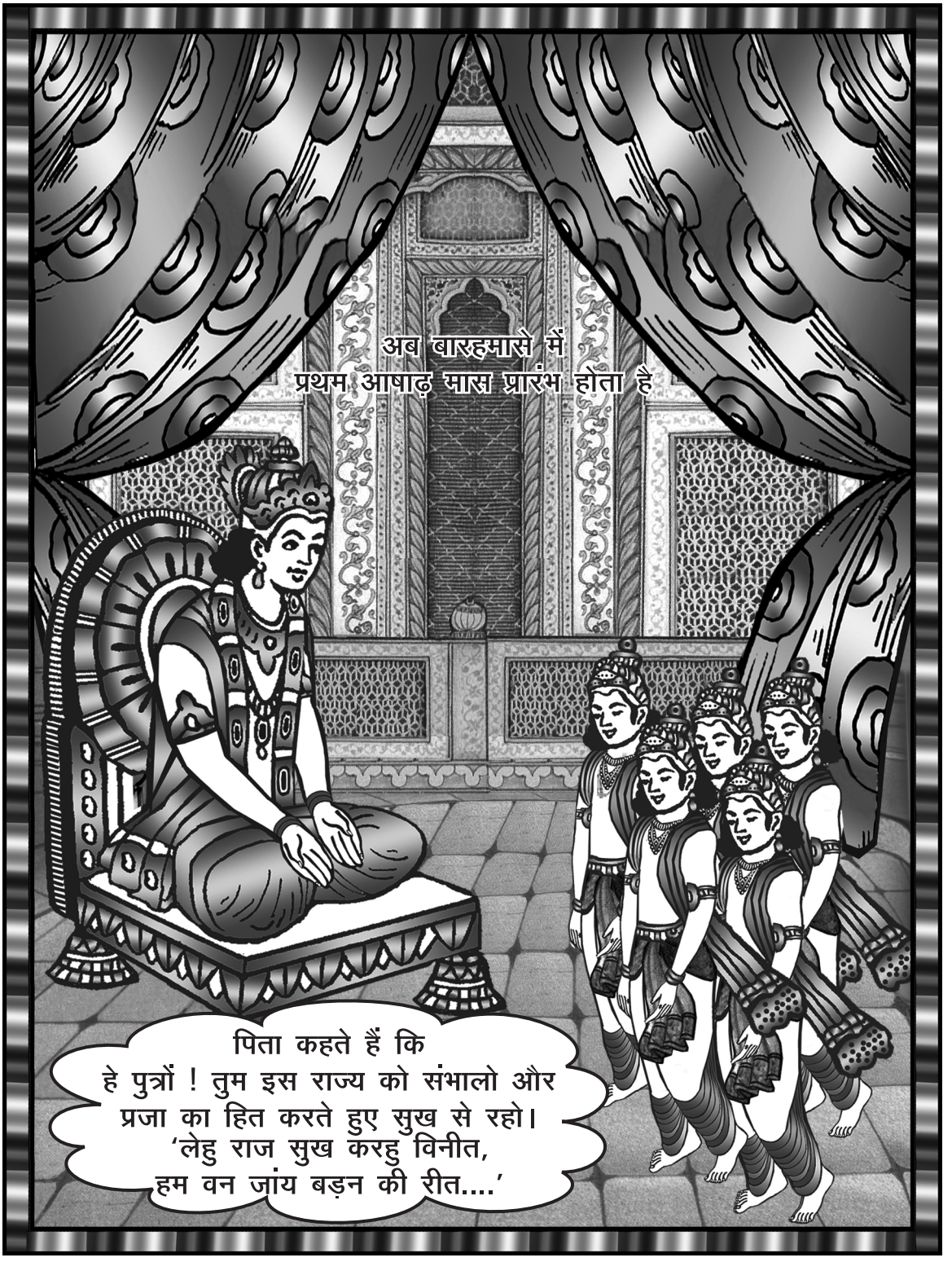
अब बारहमासे में
प्रथम आषाढ़ मास प्रारंभ होता है
पिता कहते हैं कि
हे पुत्रों ! तुम इस राज्य को संभालो और
प्रजा का हित करते हुए सुख से रहो।
'लेहु राज सुख करहु विनीत,
हम वन जांय बड़न की रीत....'

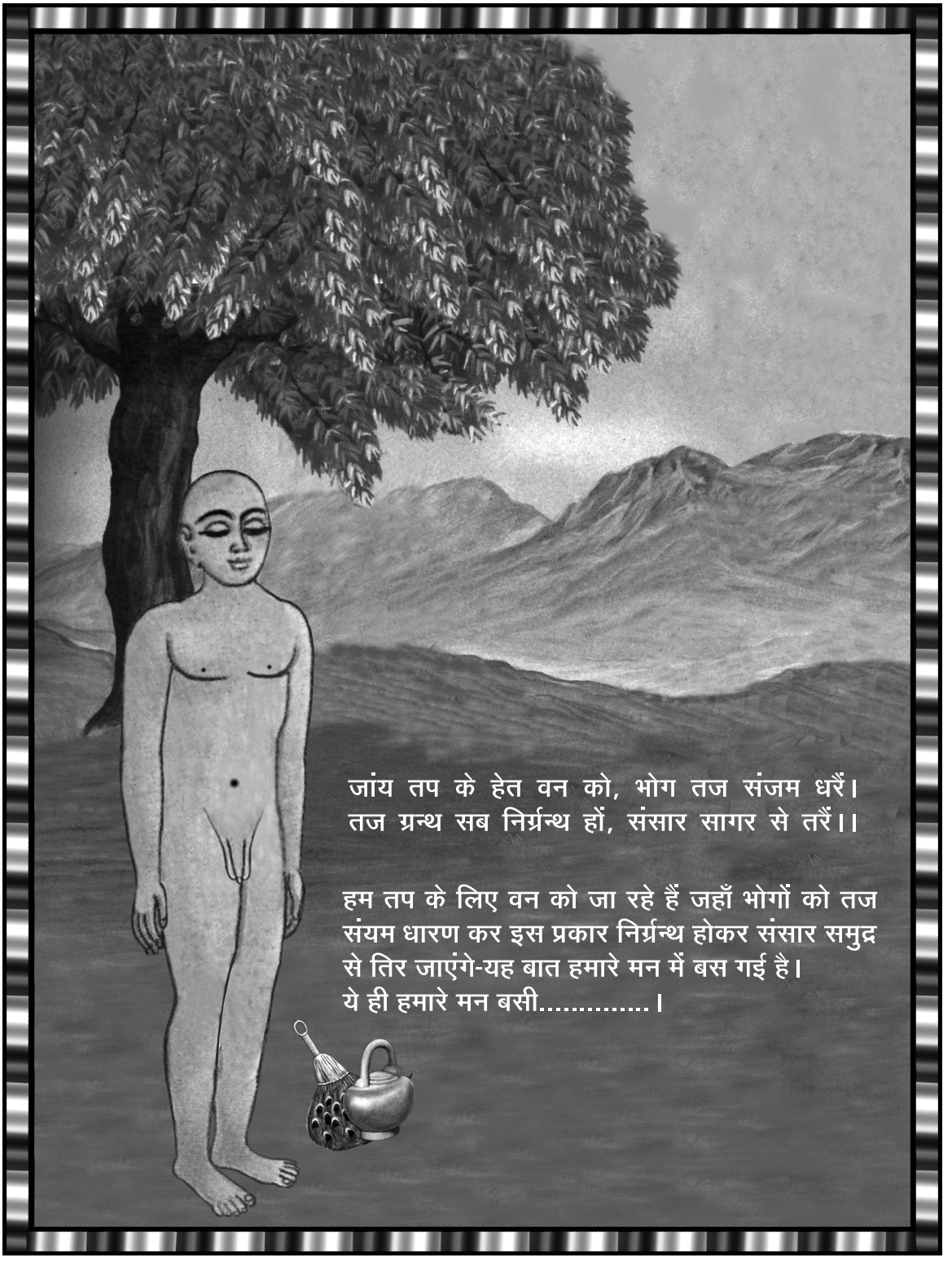
जांय तप के हेत वन को, भोग तज संजम धरैं।
तज ग्रन्थ सब निर्ग्रन्थ हों, संसार सागर से तरैं।।
हम तप के लिए वन को जा रहे हैं जहाँ भोगों को तज संयम धारण कर इस प्रकार निर्ग्रन्थ होकर संसार समुद्र से तिर जाएंगे-यह बात हमारे मन में बस गई है।
ये ही हमारे मन बसी.....।

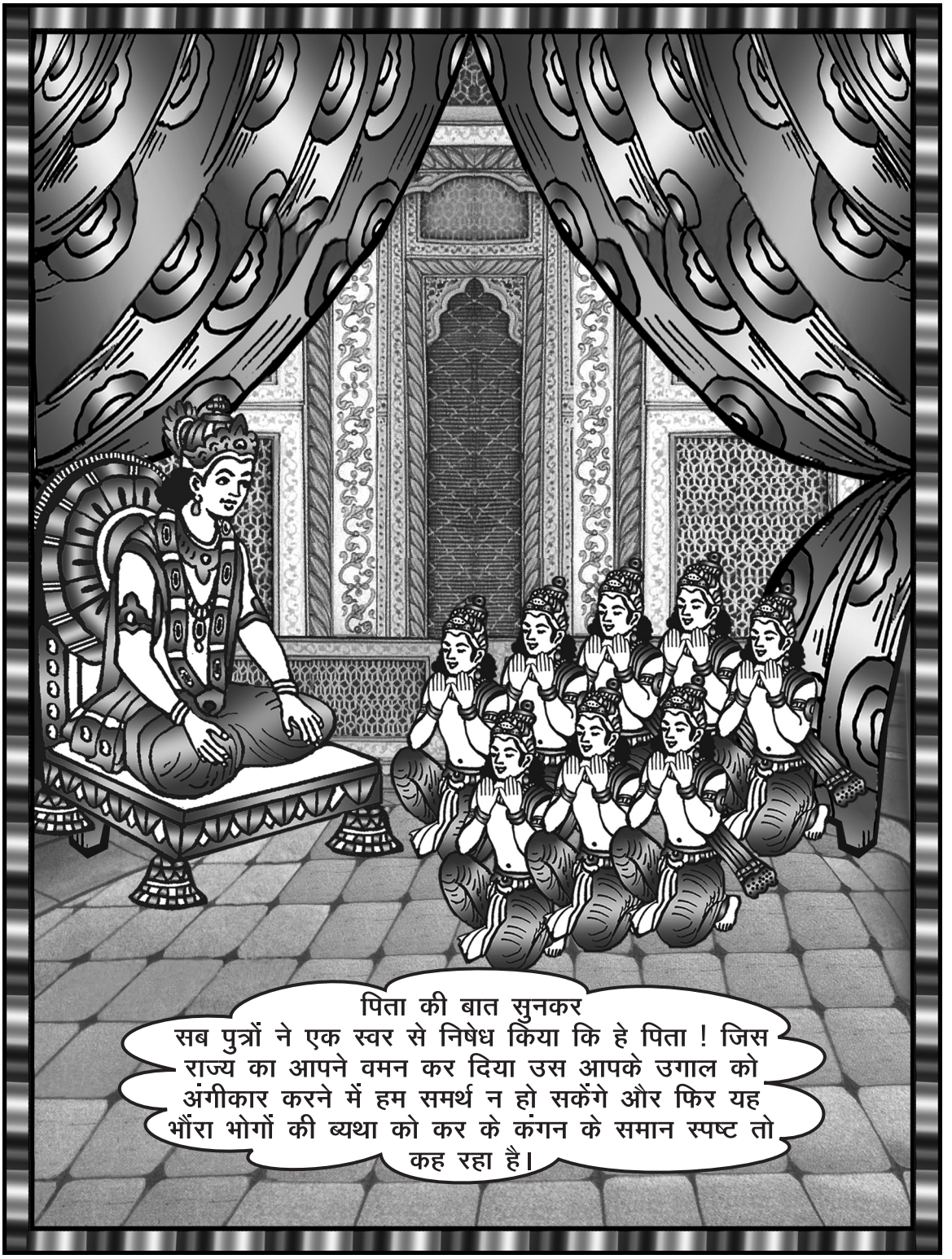
पिता की बात सुनकर
सब पुत्रों ने एक स्वर से निषेध किया कि हे पिता ! जिस राज्य का आपने वमन कर दिया उस आपके उगाल को अंगीकार करने में हम समर्थ न हो सकेंगे और फिर यह भौंरा भोगों की व्यथा को कर के कंगन के समान स्पष्ट तो कह रहा है।

पिता राज तुम कीनो वौन।
ताहि ग्रहण हम समरथ हौं न।
यह भौंरा भोगन की व्यथा।
प्रकट करत कर कंगन यथा।।

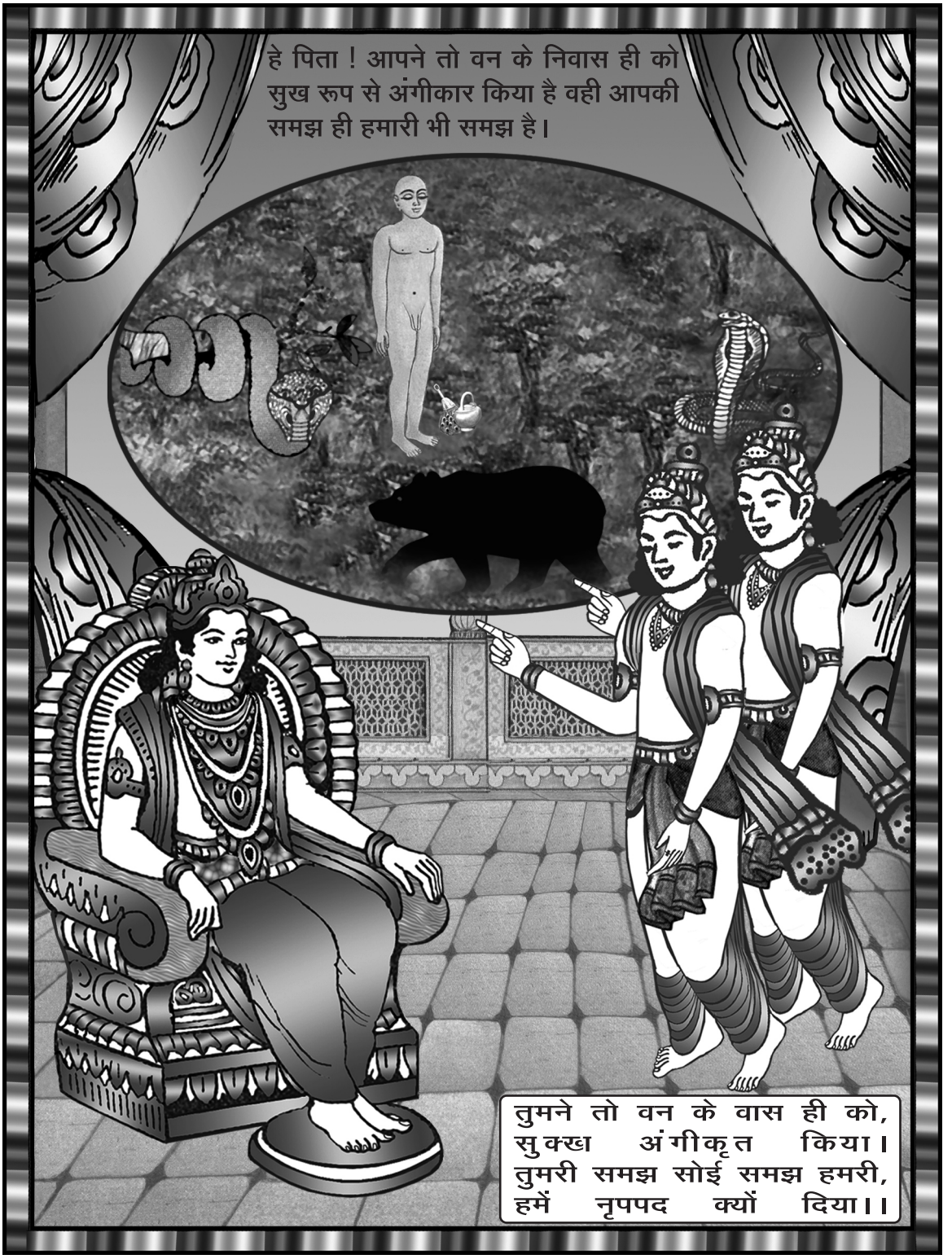
हे पिता ! आपने तो वन के निवास ही को सुख रूप से अंगीकार किया है वही आपकी समझ ही हमारी भी समझ है।
तुमने तो वन के वास ही को, सुक्ख अंगीकृत किया। तुमरी समझ सोई समझ हमरी, हमें नृपपद क्यों दिया।।

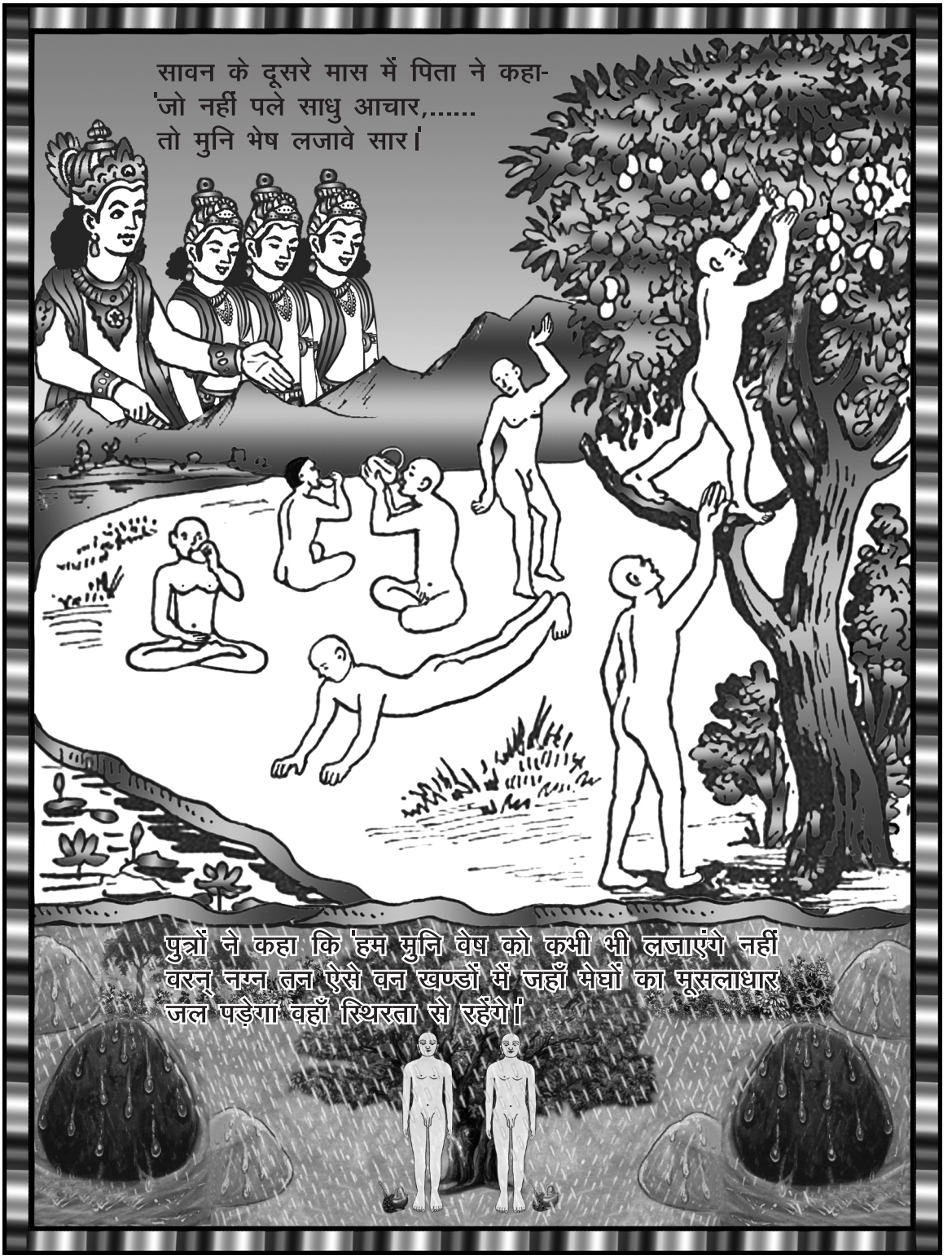
सावन के दूसरे मास में पिता ने कहा-
'जो नहीं पले साधु आचार,.....
तो मुनि भेष लजावे सार।
पुत्रों ने कहा कि 'हम मुनि वेष को कभी भी लजाएंगे नहीं
वरन् नग्न तन ऐसे वन खण्डों में जहाँ मेघों का मूसलाधार
जल पड़ेगा वहाँ स्थिरता से रहेंगे।

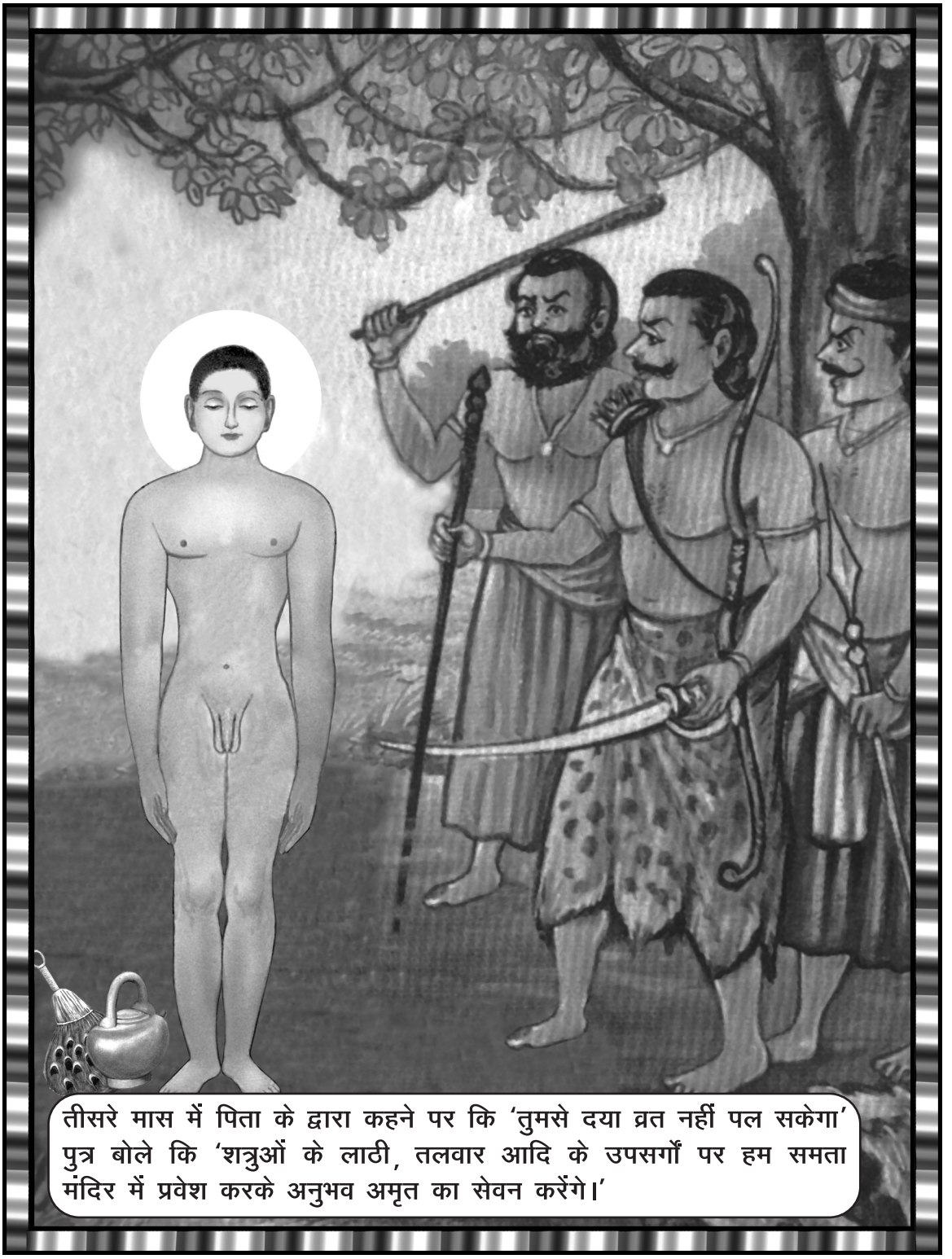

तीसरे मास में पिता के द्वारा कहने पर कि 'तुमसे दया व्रत नहीं पल सकेगा' पुत्र बोले कि 'शत्रुओं के लाठी, तलवार आदि के उपसर्गों पर हम समता मंदिर में प्रवेश करके अनुभव अमृत का सेवन करेंगे।'

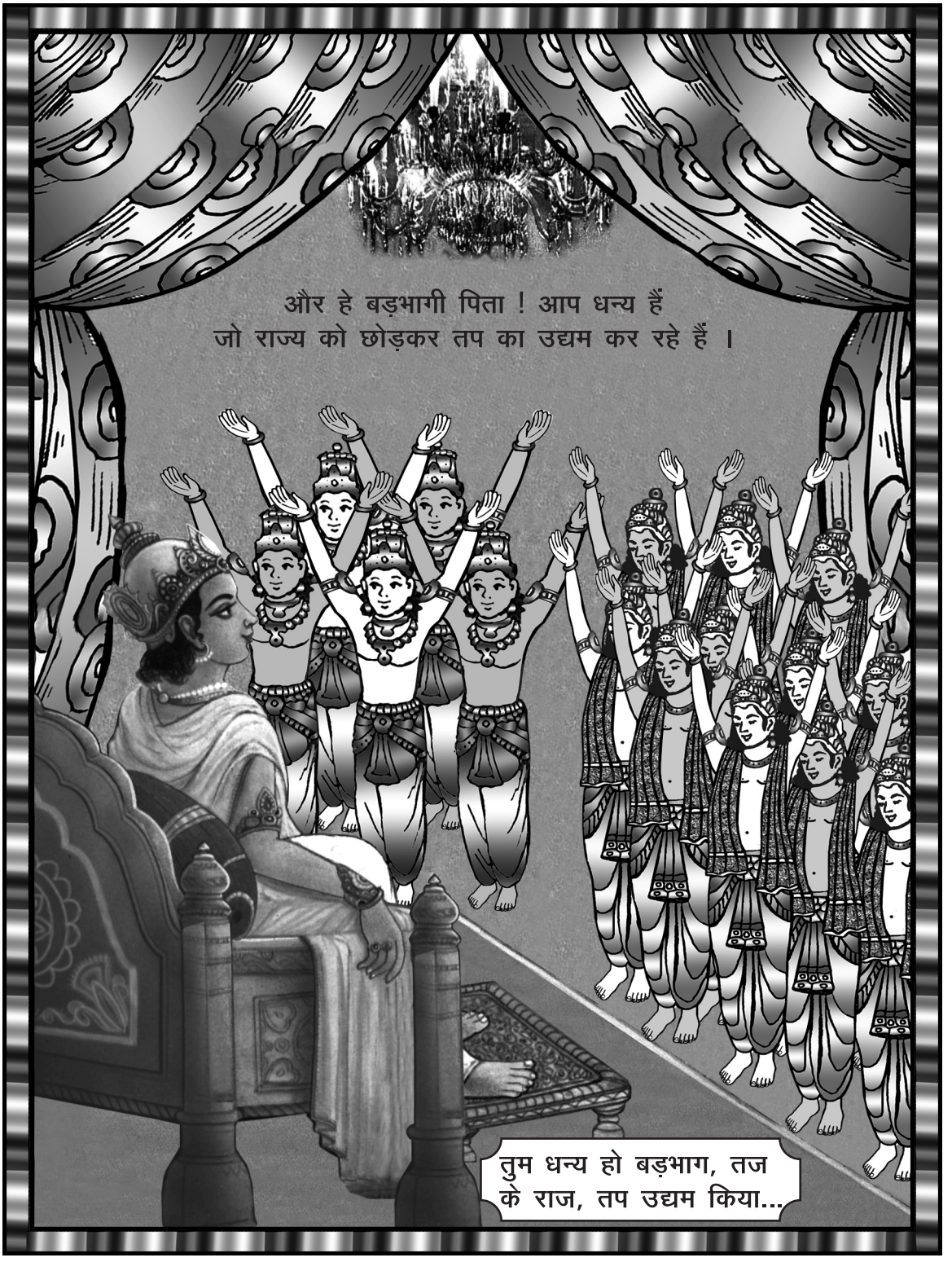
और हे बड़भागी पिता ! आप धन्य हैं
जो राज्य को छोड़कर तप का उद्यम कर रहे हैं ।
तुम धन्य हो बड़भाग, तज
के राज, तप उद्यम किया...

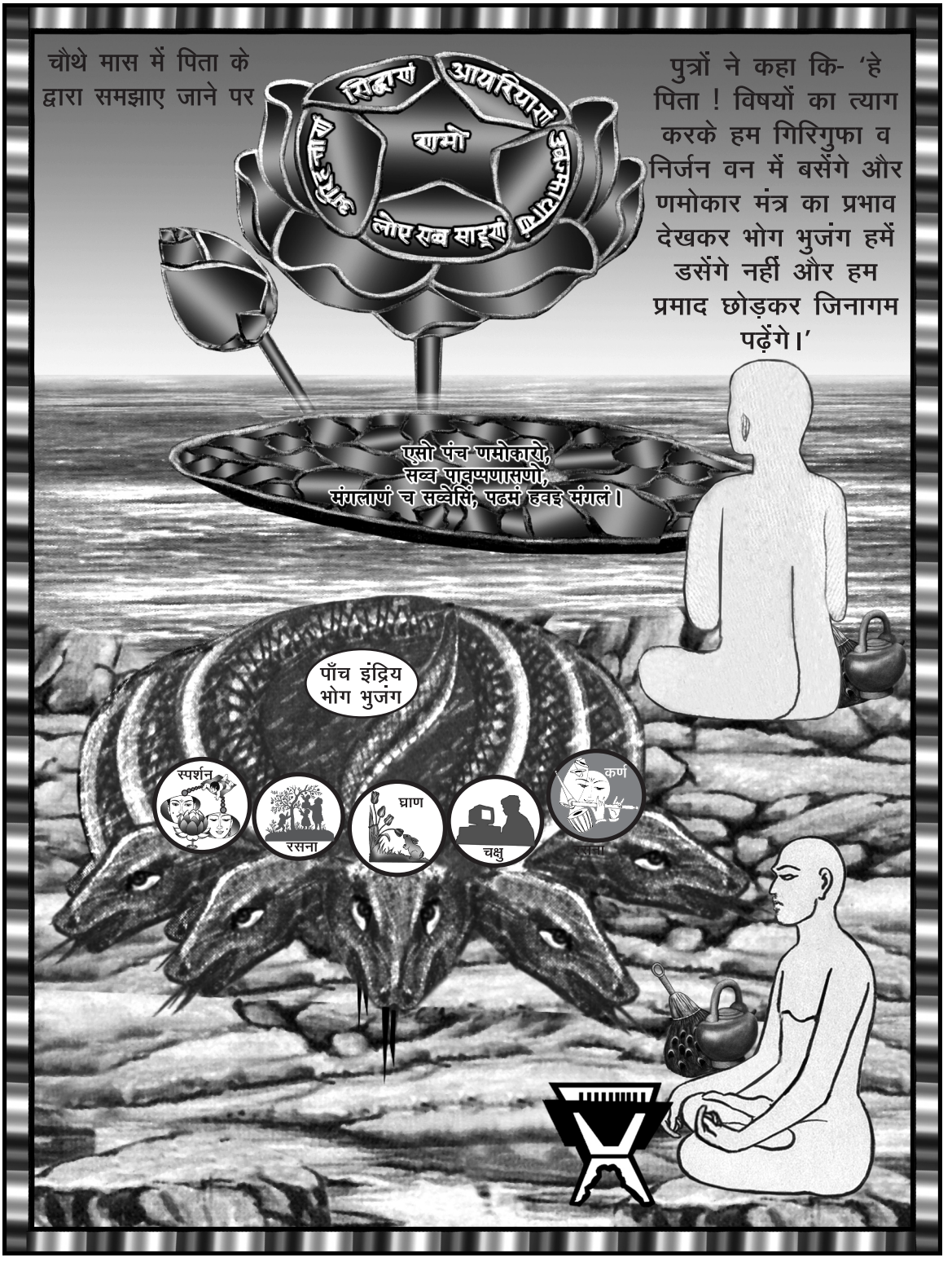

चौथे मास में पिता के द्वारा समझाए जाने पर
पुत्रों ने कहा कि- 'हे पिता ! विषयों का त्याग करके हम गिरिगुफा व निर्जन वन में बसेंगे और णमोकार मंत्र का प्रभाव देखकर भोग भुजंग हमें डसेंगे नहीं और हम प्रमाद छोड़कर जिनागम पढ़ेंगे।'
सिद्धाणं
आयरियाणं
णमो
लोए सव्व साहूणं
एसो पंच णमोकारो,
सव्व पावप्पणासणो,
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।
पाँच इंद्रिय
भोग भुजंग
स्पर्शन
रसना
घ्राण
चक्षु
कर्ण

पाँचवें कार्तिक मास में पिता कहते हैं कि 'हे पुत्रों ! मुनि जब विहार करते हैं तो शरीर में अपार कांटे और कंकड़ चुभते हैं।'

कातिक में सुत करैं विहार, कांटे-कांकड़ चुभैं अपार....

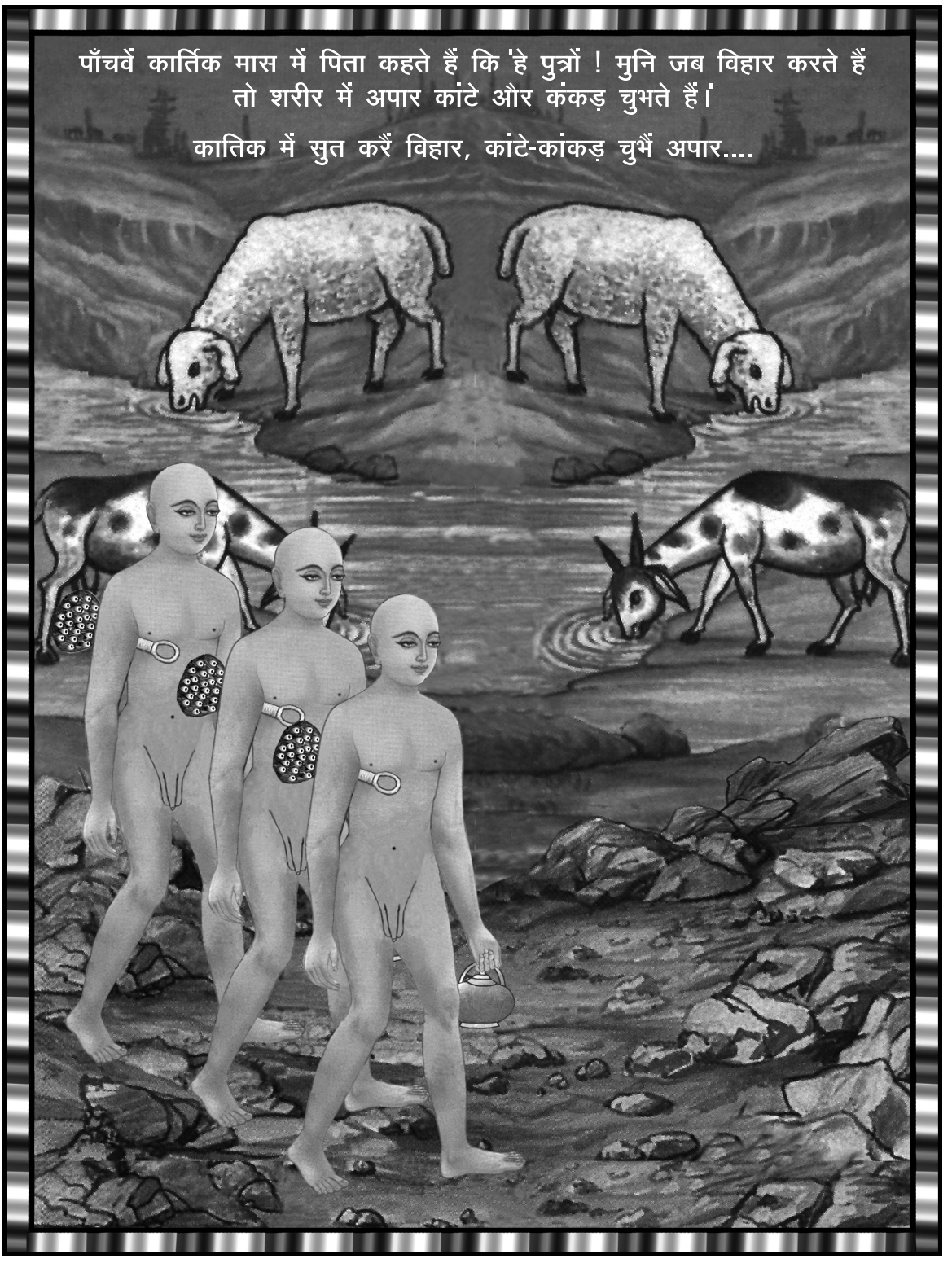

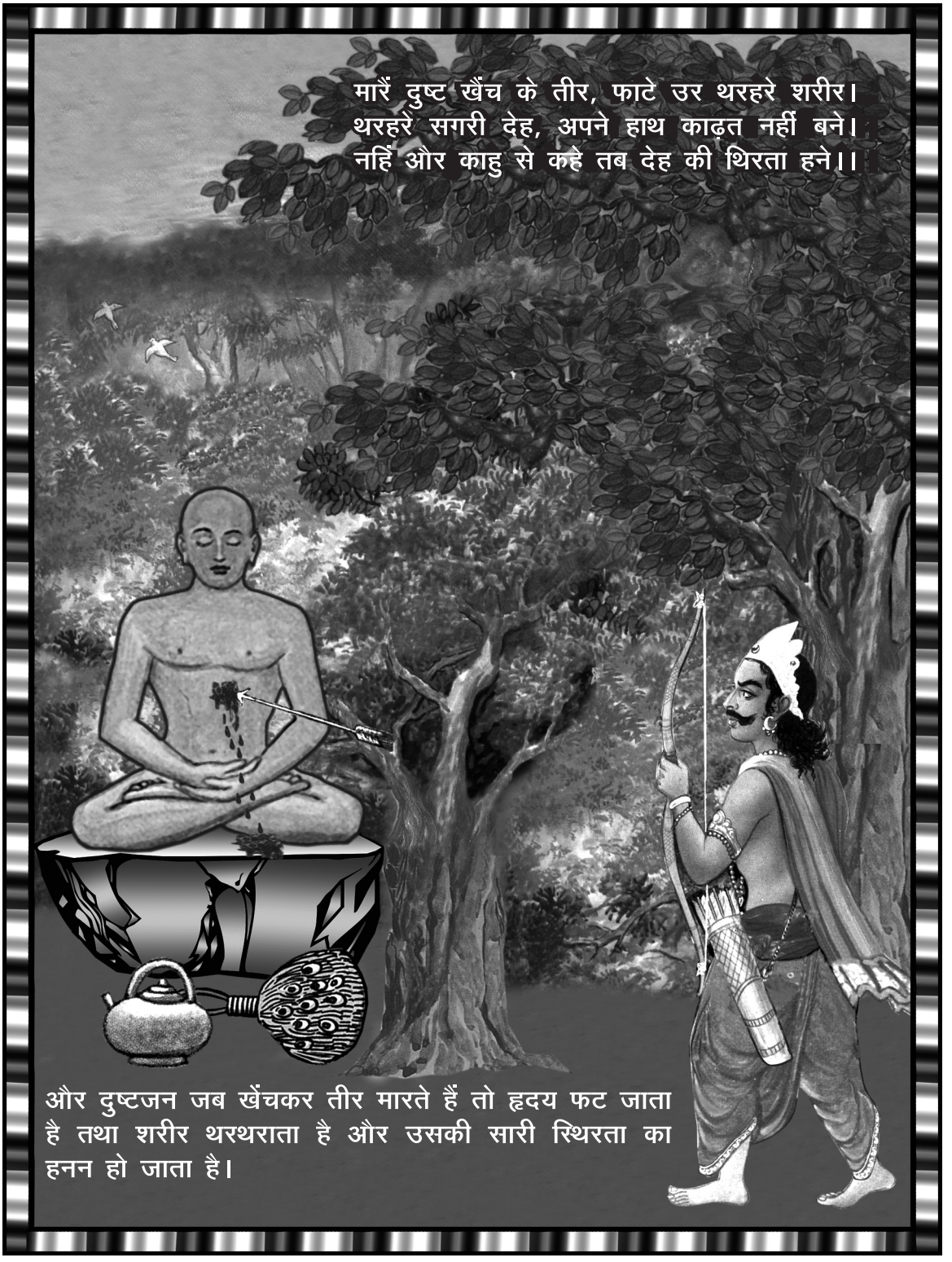
मारैं दुष्ट खैंच के तीर, फाटे उर थरहरे शरीर।
थरहरे सगरी देह, अपने हाथ काढ़त नहीं बने।
नहिं और काहु से कहे तब देह की थिरता हने।।
और दुष्टजन जब खेंचकर तीर मारते हैं तो हृदय फट जाता है तथा शरीर थरथराता है और उसकी सारी स्थिरता का हनन हो जाता है।

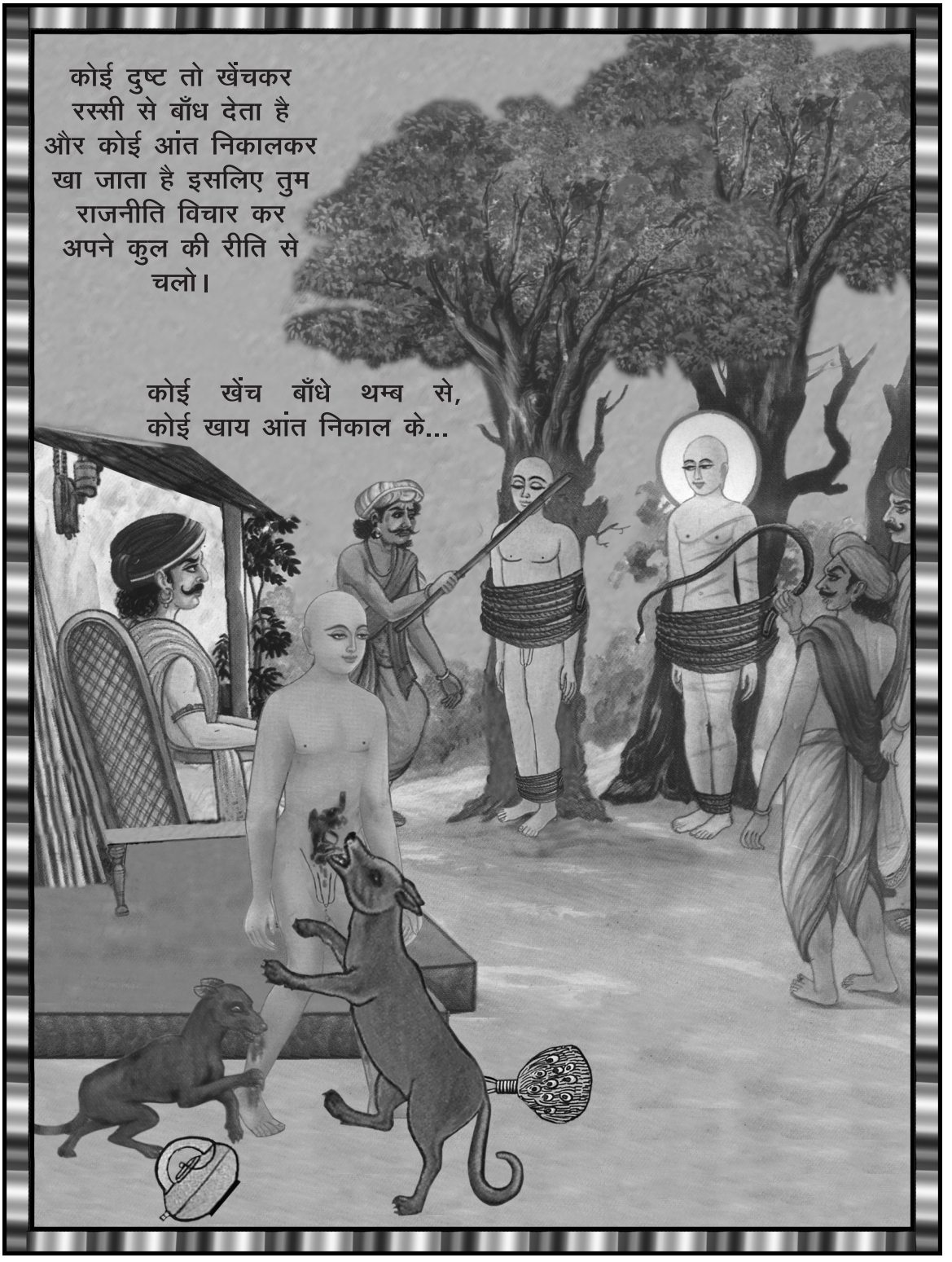
कोई दुष्ट तो खेंचकर
रस्सी से बाँध देता है
और कोई आंत निकालकर
खा जाता है इसलिए तुम
राजनीति विचार कर
अपने कुल की रीति से
चलो।
कोई खेंच बाँधे थम्ब से,
कोई खाय आंत निकाल के...

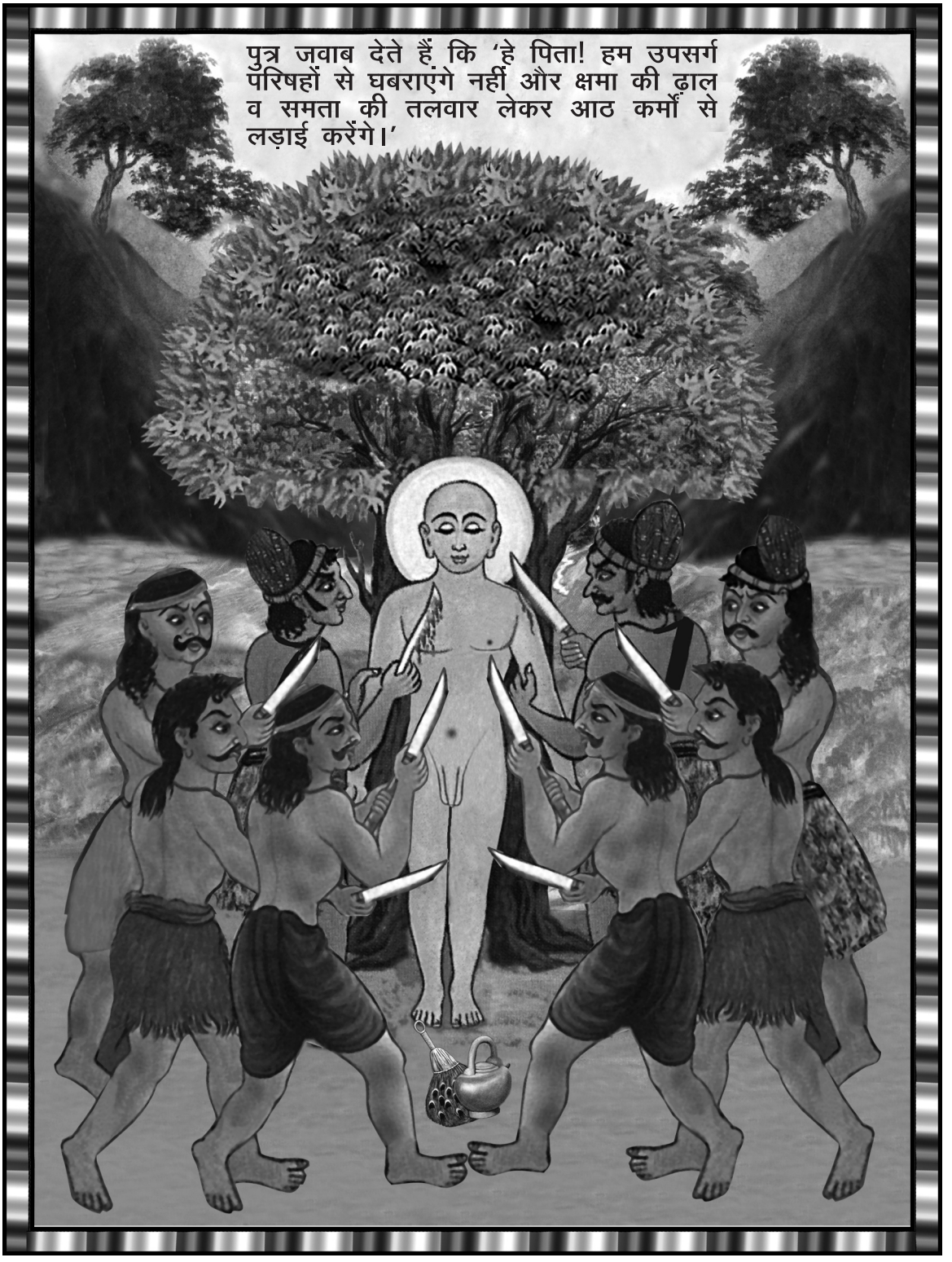
पुत्र जवाब देते हैं कि 'हे पिता! हम उपसर्ग परिषहों से घबराएंगे नहीं और क्षमा की ढ़ाल व समता की तलवार लेकर आठ कर्मों से लड़ाई करेंगे।'

और हे प्रभु ! आज का यह दिन धन्य है और यह वार धन्य है जो आप योग का उद्यम करने जा रहे हैं परन्तु जो आपकी समझ है सो ही हमारी भी समझ है, हमें आप राज्यपद क्यों दे रहे हैं !

धनि धन्य यह दिन वार प्रभु ! तुम, योग का उद्यम किया....

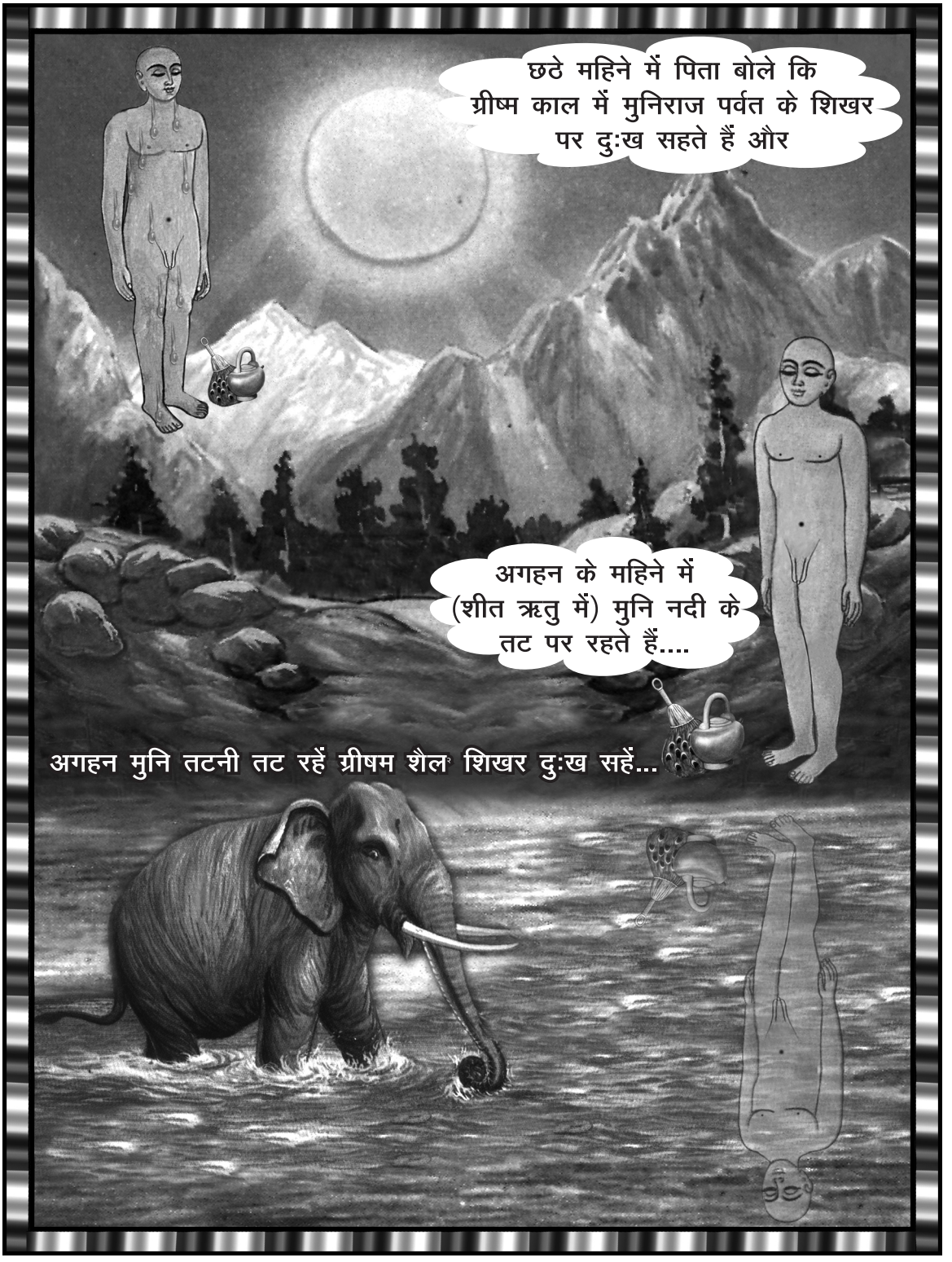
छठे महिने में पिता बोले कि ग्रीष्म काल में मुनिराज पर्वत के शिखर पर दुःख सहते हैं और
अगहन के महिने में (शीत ऋतु में) मुनि नदी के तट पर रहते हैं....
अगहन मुनि तटनी तट रहैं ग्रीषम शैल॰ शिखर दुःख सहैं...

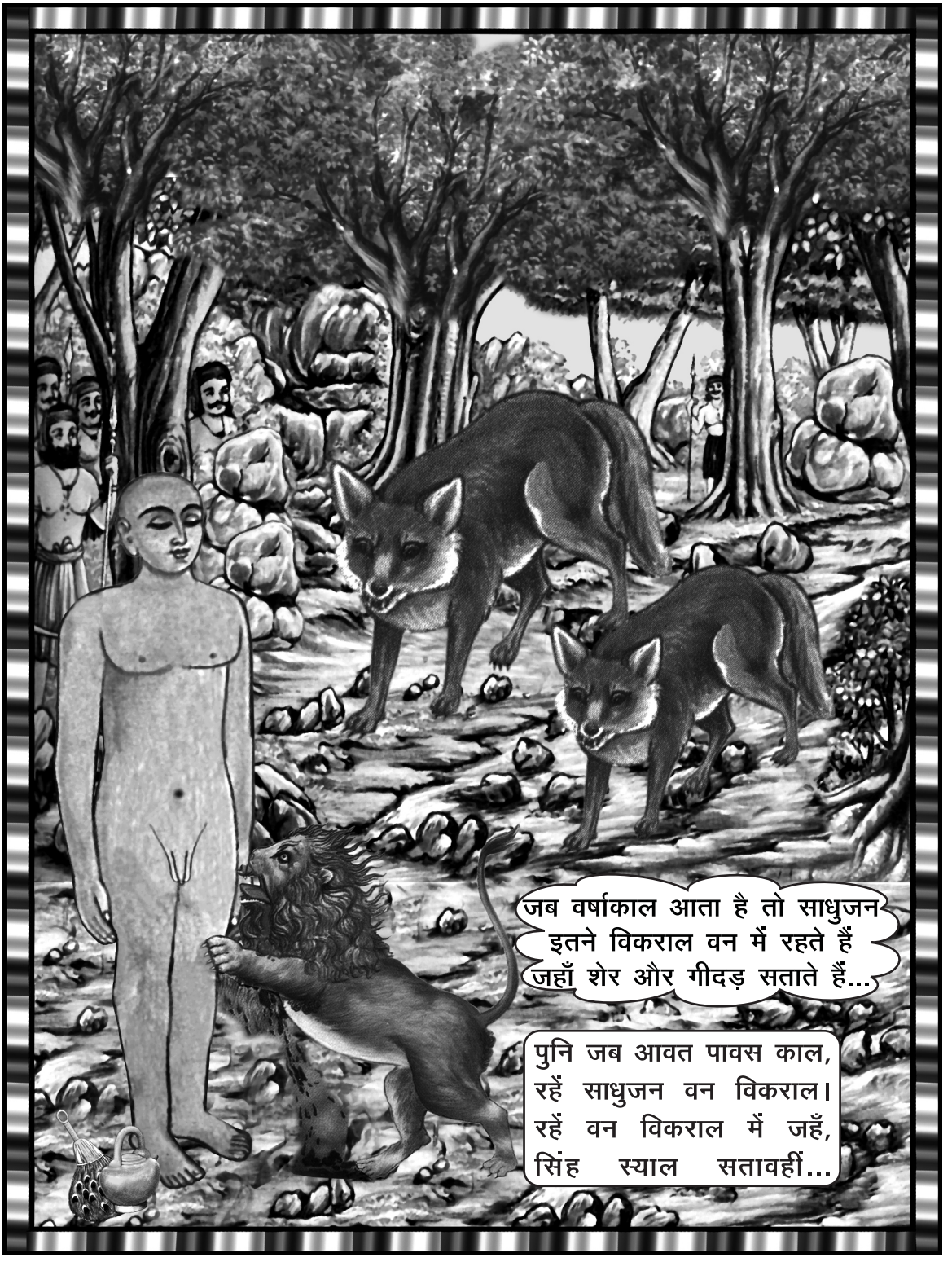
जब वर्षाकाल आता है तो साधुजन इतने विकराल वन में रहते हैं जहाँ शेर और गीदड़ सताते हैं...
पुनि जब आवत पावस काल,
रहें साधुजन वन विकराल।
रहें वन विकराल में जहँ,
सिंह स्याल सतावहीं...

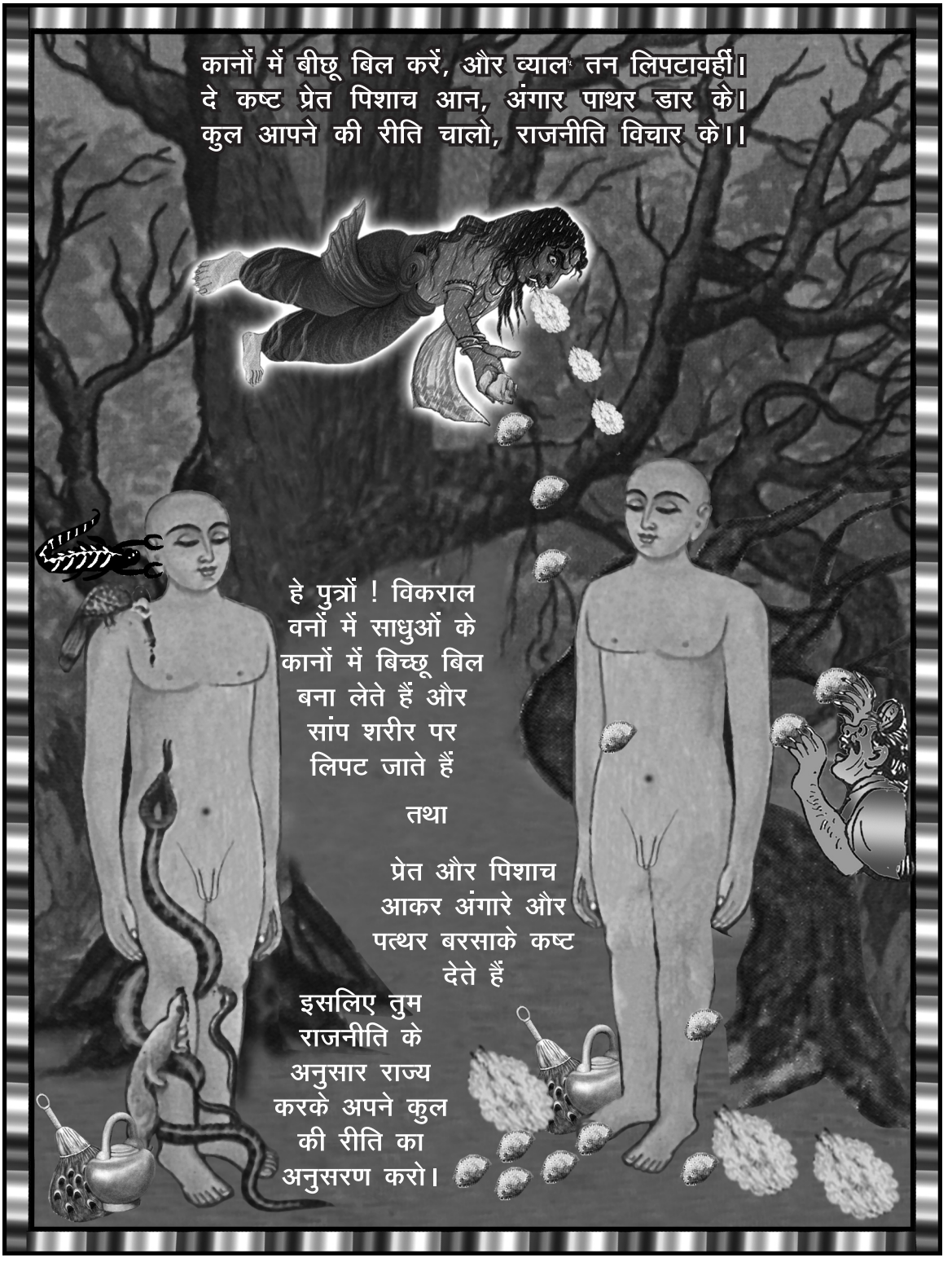
कानों में बीछू बिल करें, और व्याल तन लिपटावहीं।
दे कष्ट प्रेत पिशाच आन, अंगार पाथर डार के।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।
हे पुत्रों ! विकराल वनों में साधुओं के कानों में बिच्छू बिल बना लेते हैं और सांप शरीर पर लिपट जाते हैं
तथा
प्रेत और पिशाच आकर अंगारे और पत्थर बरसाके कष्ट देते हैं
इसलिए तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।

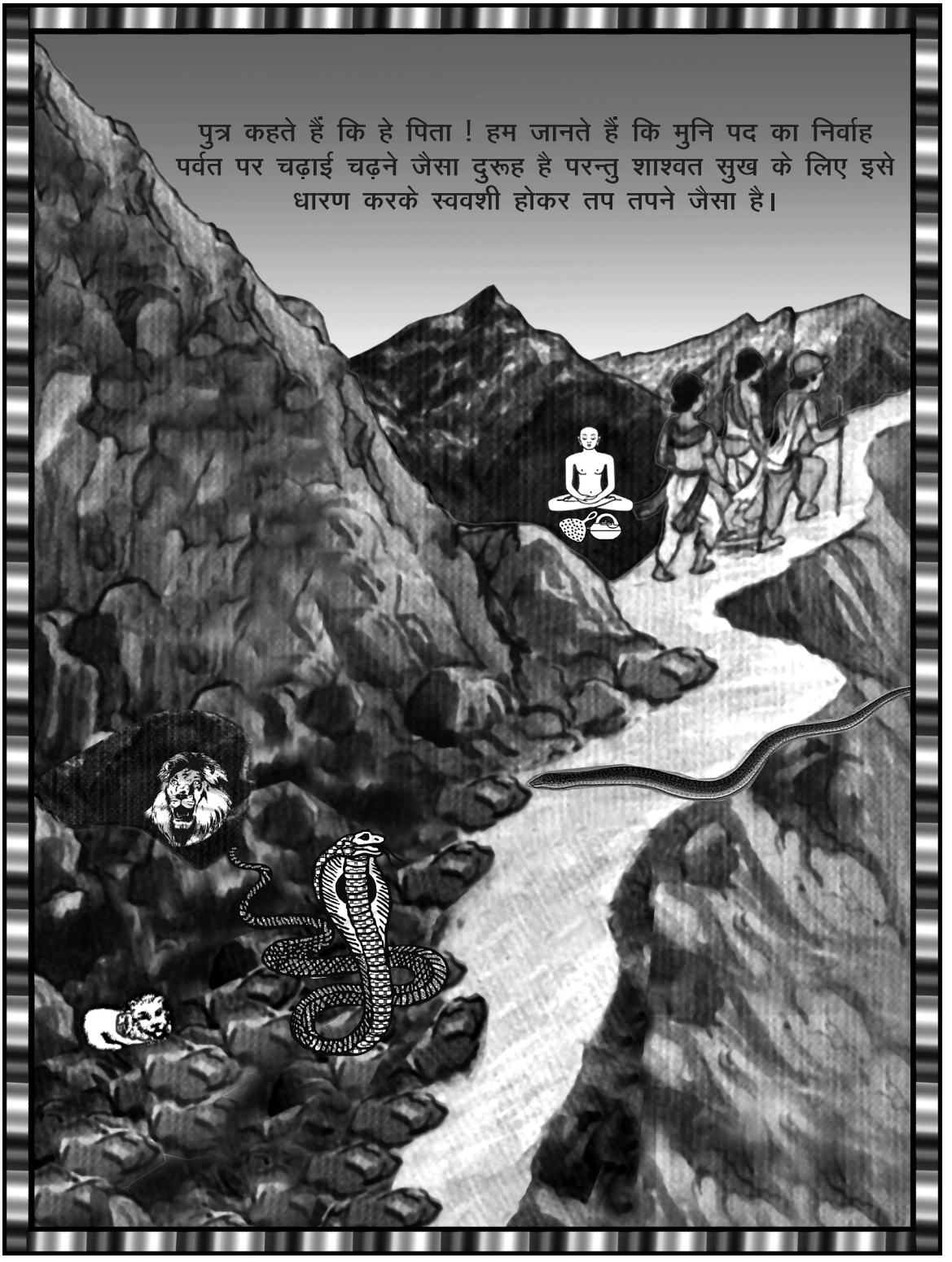

पुत्र कहते हैं कि हे पिता ! हम जानते हैं कि मुनि पद का निर्वाह पर्वत पर चढ़ाई चढ़ने जैसा दुरूह है परन्तु शाश्वत सुख के लिए इसे धारण करके स्ववशी होकर तप तपने जैसा है।

भूले शिव राह

फिर सातवें माह में पिता ने जब पुत्रों को अपनी सारी विभूति संभालने की प्रेरणा की तो उन्होंने इन्कार कर दिया कि इन भोगों में लगकर ही हम मुक्ति की राह भूले हैं इसलिए हमें इनकी चाह नहीं है।

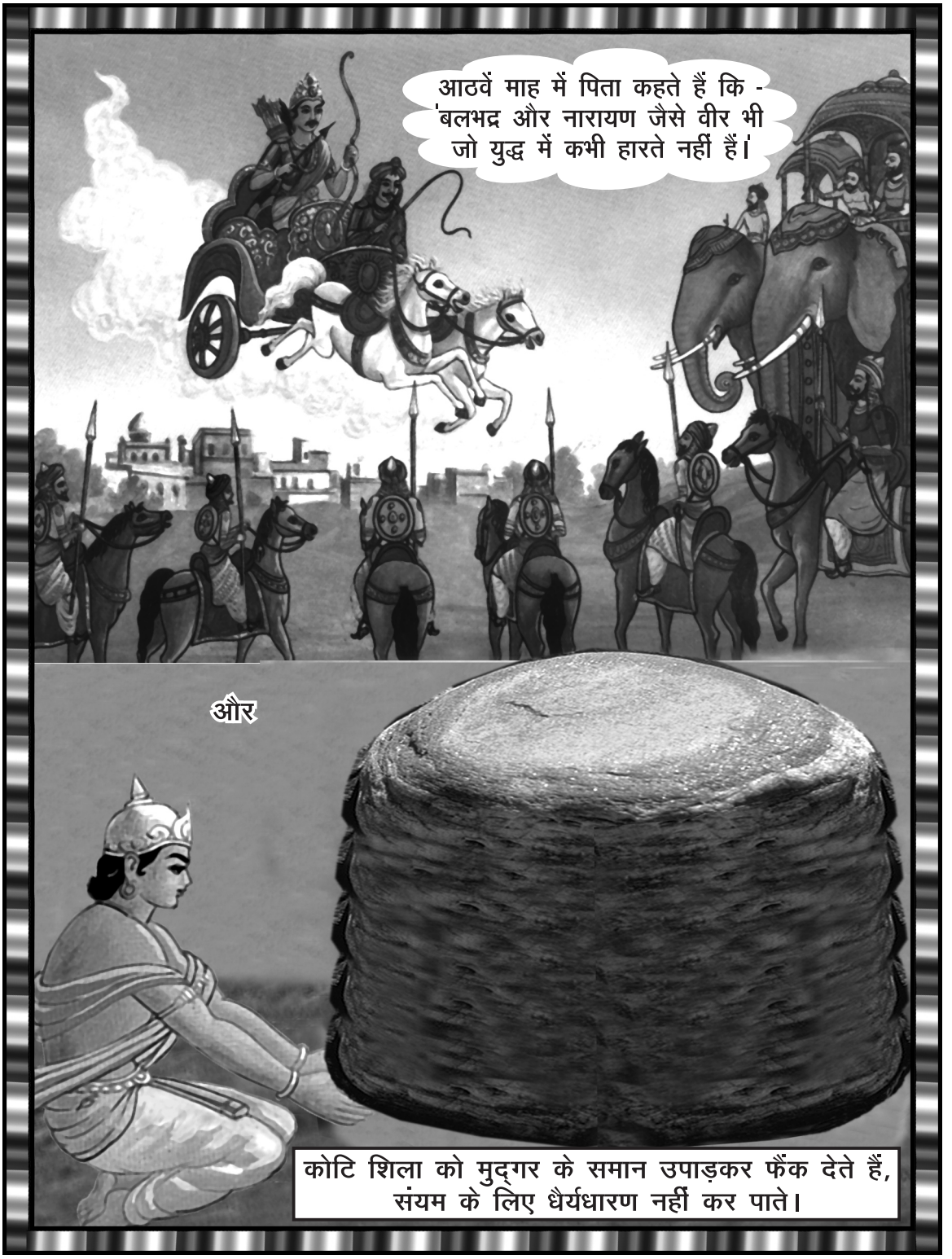
आठवें माह में पिता कहते हैं कि -
'बलभद्र और नारायण जैसे वीर भी
जो युद्ध में कभी हारते नहीं हैं।'
और
कोटि शिला को मुद्गर के समान उपाड़कर फैंक देते हैं,
संयम के लिए धैर्यधारण नहीं कर पाते।

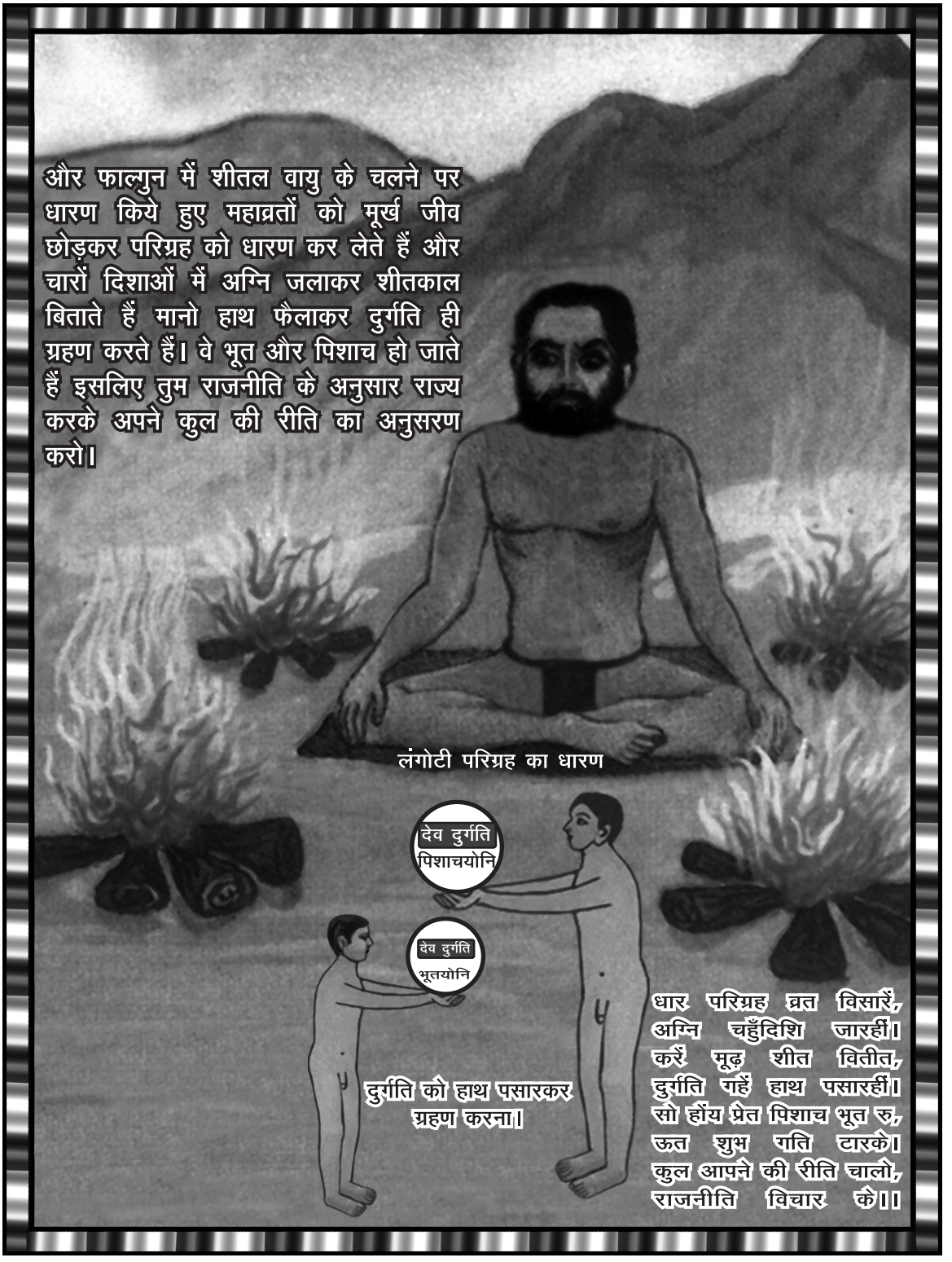
और फाल्गुन में शीतल वायु के चलने पर धारण किये हुए महाव्रतों को मूर्ख जीव छोड़कर परिग्रह को धारण कर लेते हैं और चारों दिशाओं में अग्नि जलाकर शीतकाल बिताते हैं मानो हाथ फैलाकर दुर्गति ही ग्रहण करते हैं। वे भूत और पिशाच हो जाते हैं इसलिए तुम राजनीति के अनुसार राज्य करके अपने कुल की रीति का अनुसरण करो।
लंगोटी परिग्रह का धारण
देव दुर्गति पिशाचयोनि
देव दुर्गति भूतयोनि
दुर्गति को हाथ पसारकर ग्रहण करना।
धार परिग्रह व्रत विसारैं, अग्नि चहुँदिशि जारहीं।
करैं मूढ़ शीत वितीत, दुर्गति गहैं हाथ पसारहीं।
सो होंय प्रेत पिशाच भूत रु, ऊत शुभ गति टारके।
कुल आपने की रीति चालो, राजनीति विचार के।।

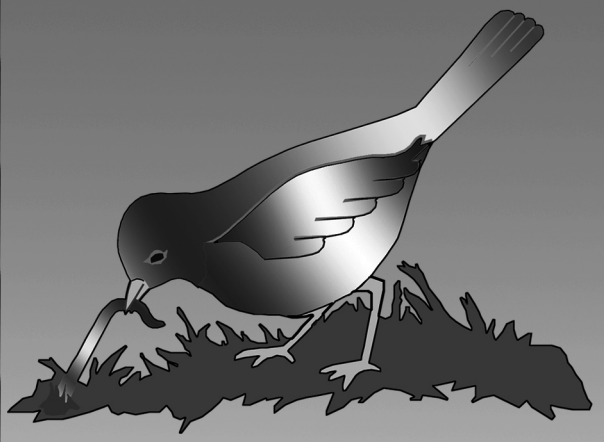

पुत्र उत्तर देते हैं कि हे पिता ! तिर्यंच पर्याय में परवश हमने इतने दुःख सहे अब तो हम मुनि पद ही धारण करेंगे।

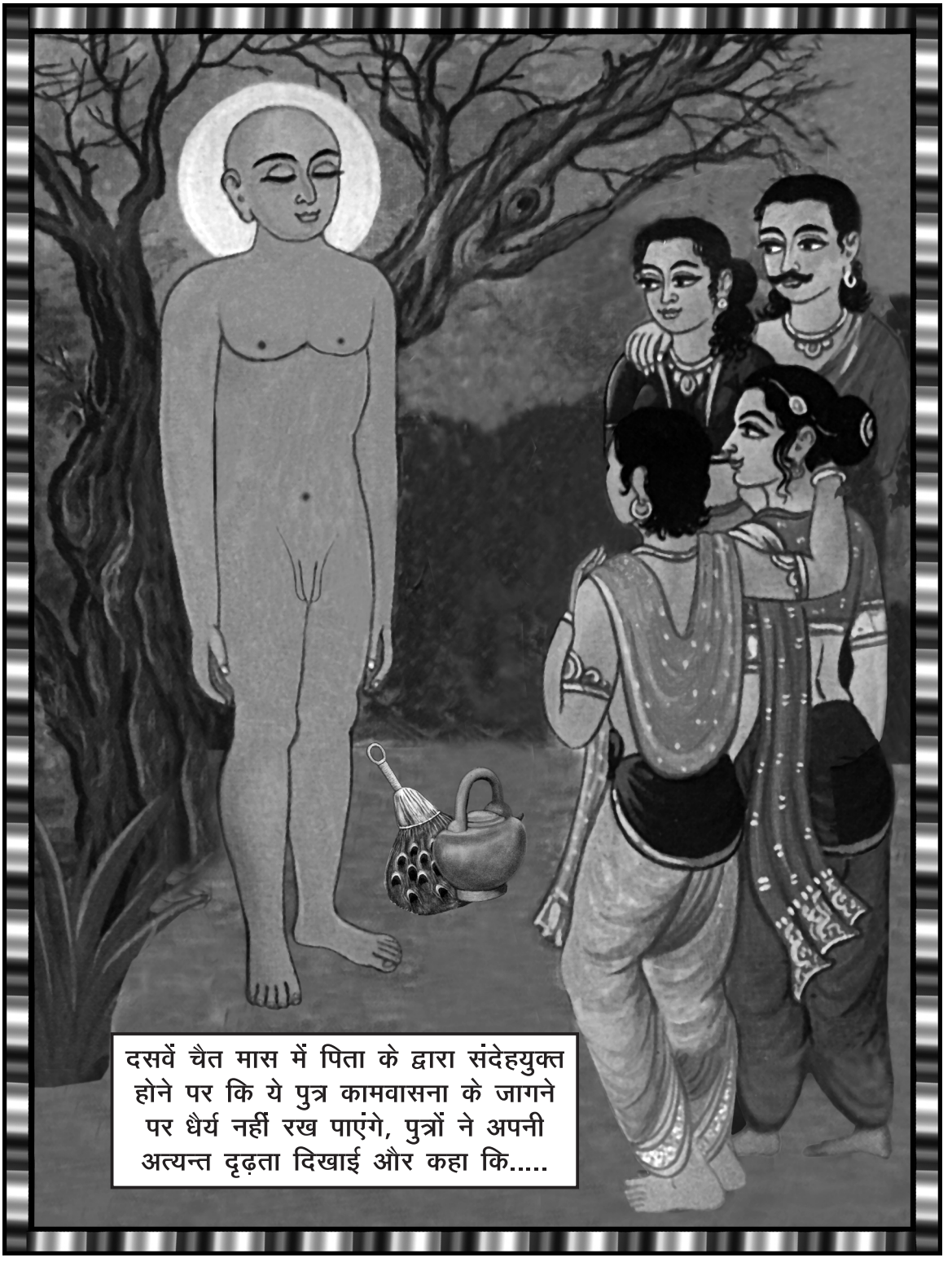
दसवें चैत मास में पिता के द्वारा संदेहयुक्त होने पर कि ये पुत्र कामवासना के जागने पर धैर्य नहीं रख पाएंगे, पुत्रों ने अपनी अत्यन्त दृढ़ता दिखाई और कहा कि.....

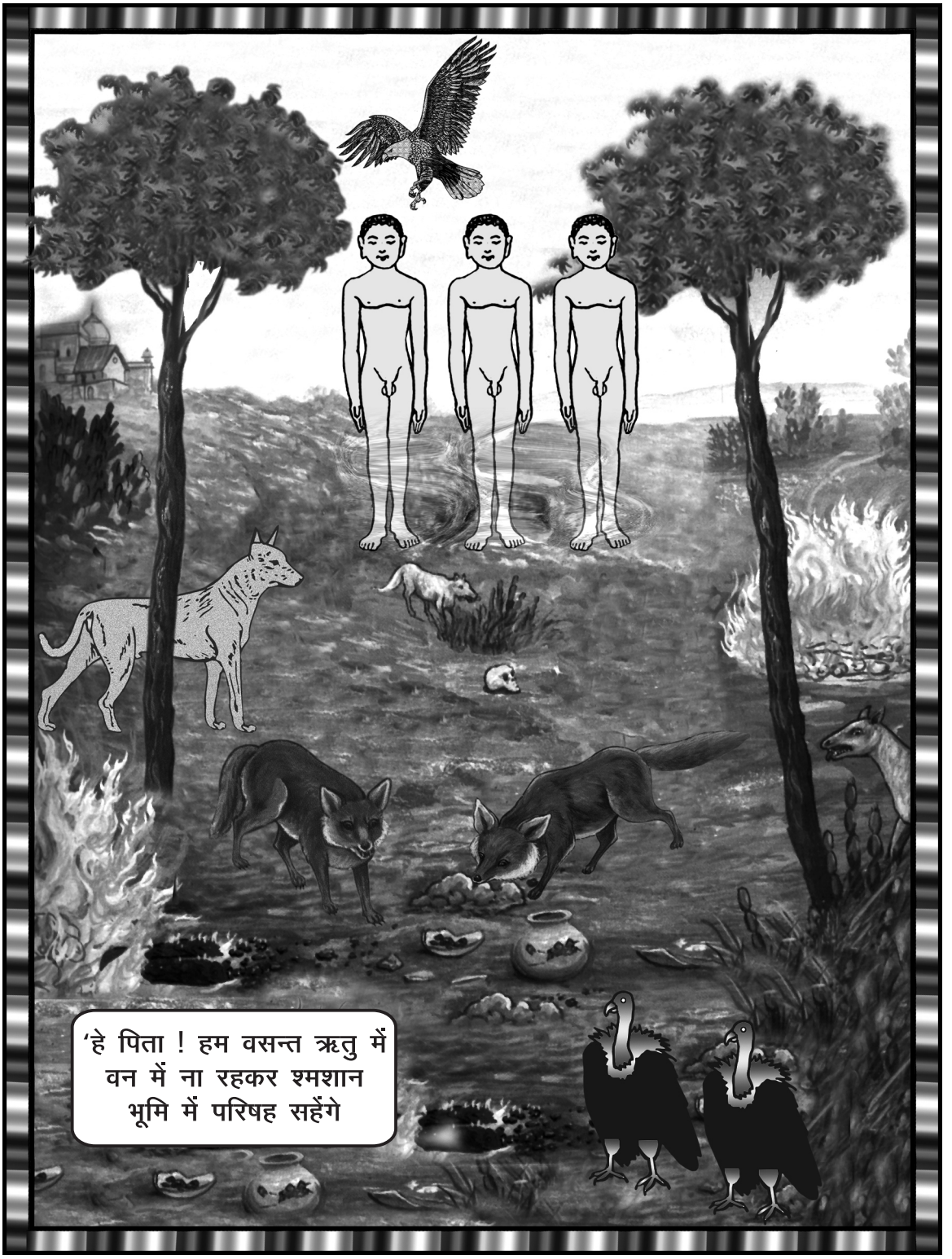
'हे पिता ! हम वसन्त ऋतु में
वन में ना रहकर श्मशान
भूमि में परिषह सहेंगे

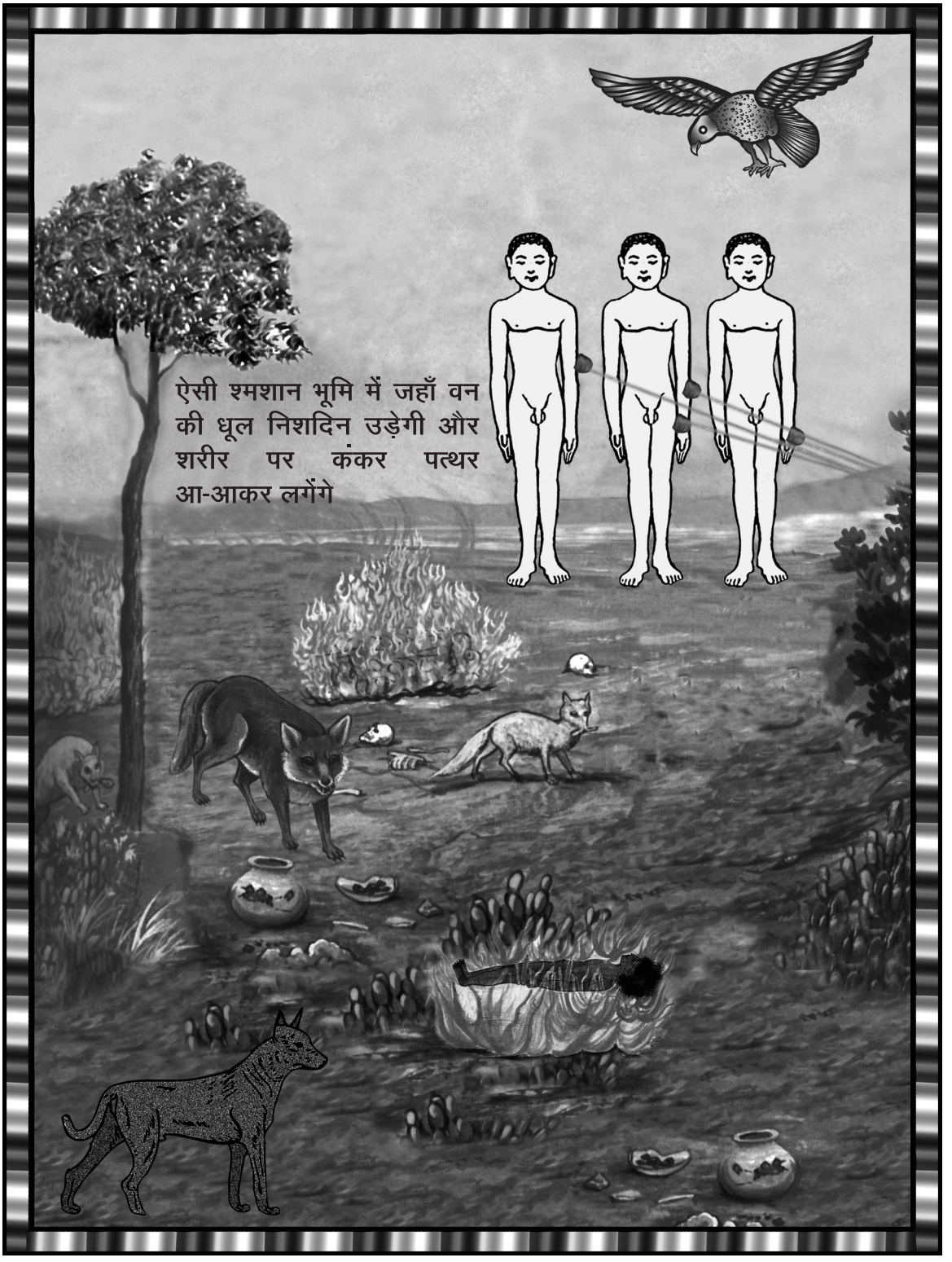
ऐसी श्मशान भूमि में जहाँ वन
की धूल निशदिन उड़ेगी और
शरीर पर कंकर पत्थर
आ-आकर लगेंगे

बस हे प्रभु ! अब और कुछ मत कहो,
भव के भोगों से हमारा मन कांप चुका है
और आपकी समझ ही हमारी समझ है।'

इन दस मासों के वार्तालाप में पुत्रों की अत्यन्त दृढ़ता देखकर ग्यारहवें वैसाख मास में चक्रवर्ती को विश्वास हो गया कि 'अब बोलने को कुछ भी नहीं रहा है।' तब उन्होंने कहा कि 'हे पुत्रों! संसार की रीति का पालन करके एक बार हमसे तो राज्य संभालो फिर चाहे इसे किसी को भी दे देना।'

फिर पुत्रों ने राजा के छः महिने के एक पोते
को तिलक करके राजा बना दिया और

पिता के साथ तीस हजार राजा, एक हजार पुत्र और
साठ हजार रानियां गृह त्याग करके चल पड़े।

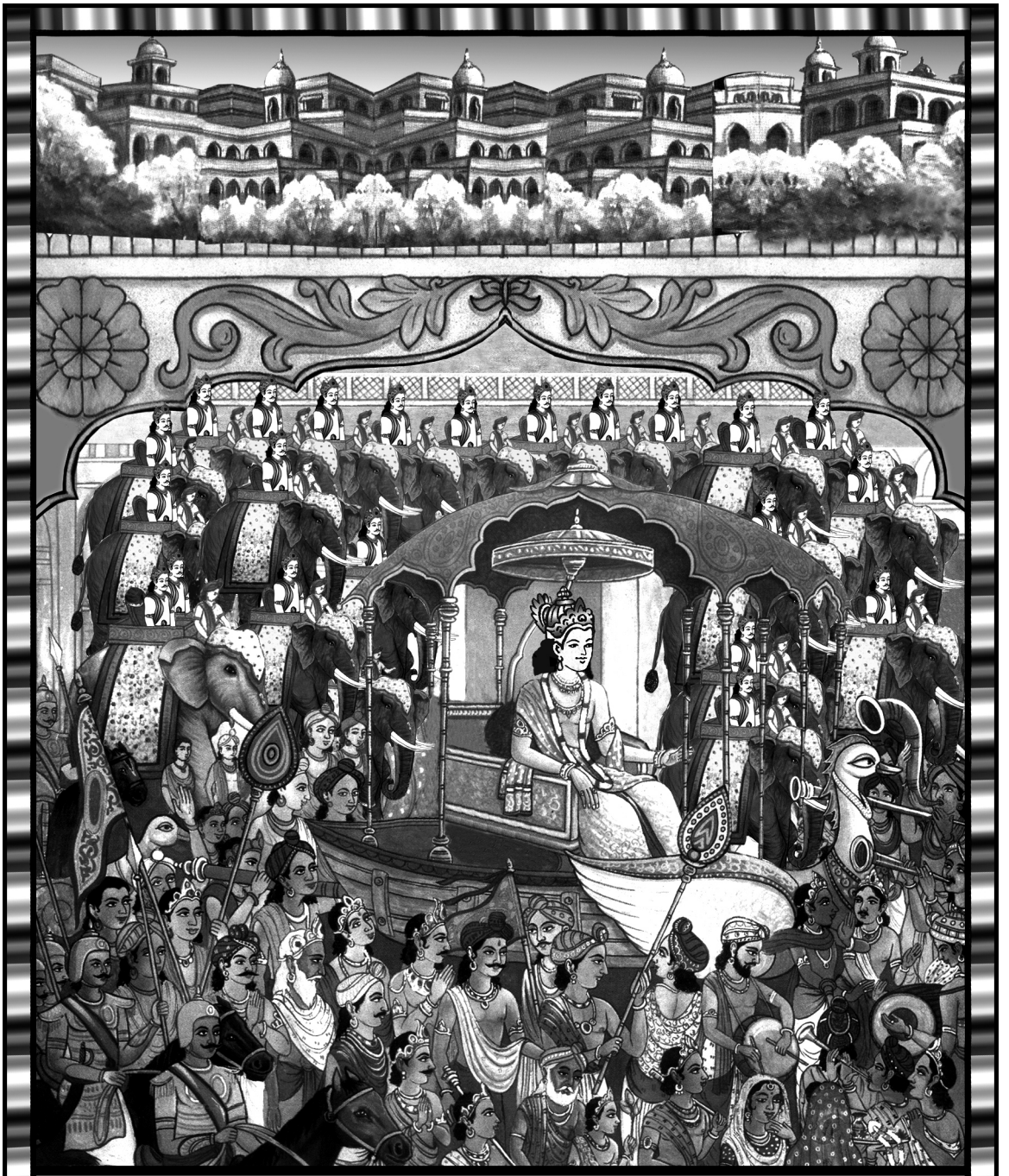

चक्रवर्ती व राजाओं का दीक्षा जलूस

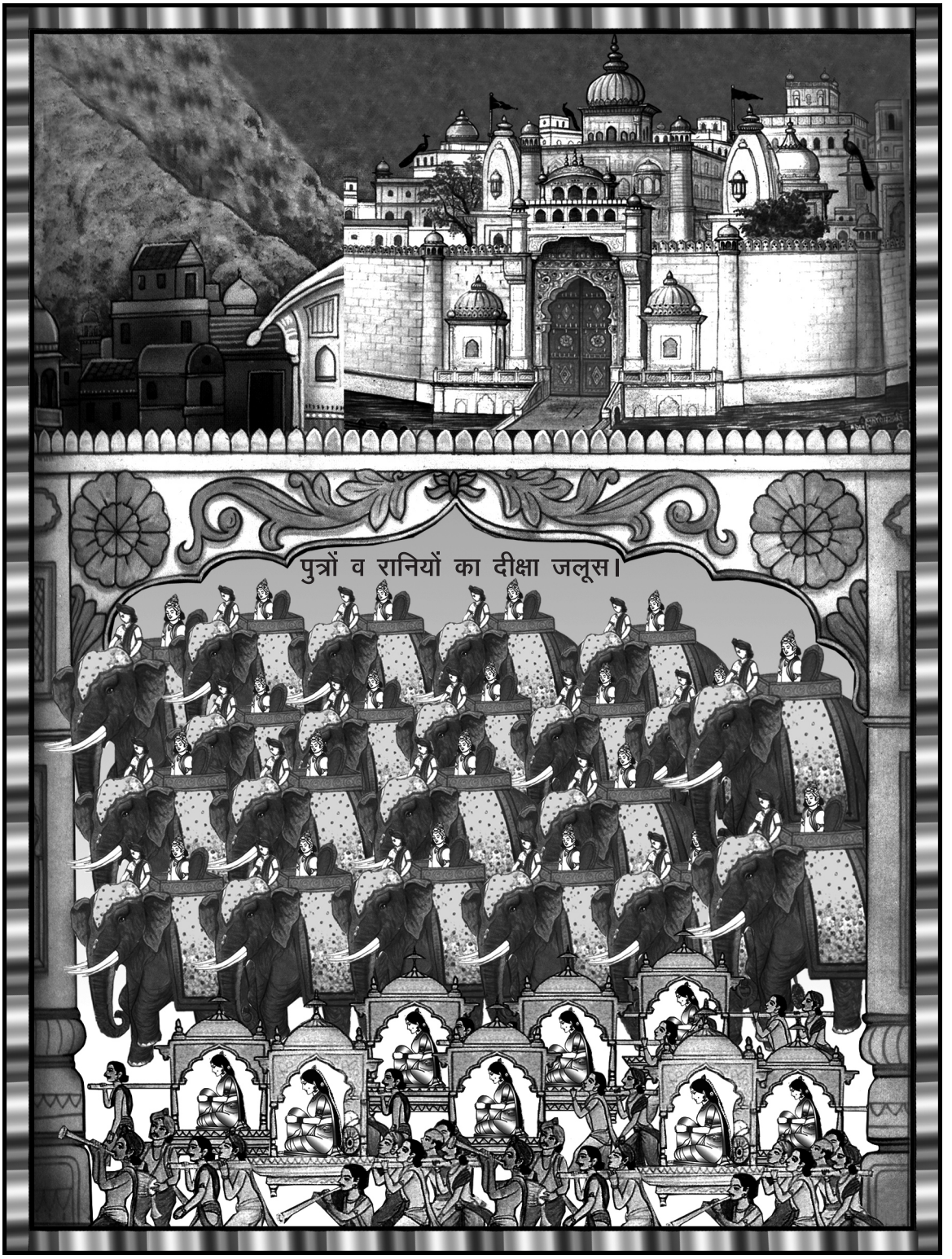

पुत्रों व रानियों का दीक्षा जलूस।

त्याग जग कूं ये चले सब,
भोग तज ममता हरी...

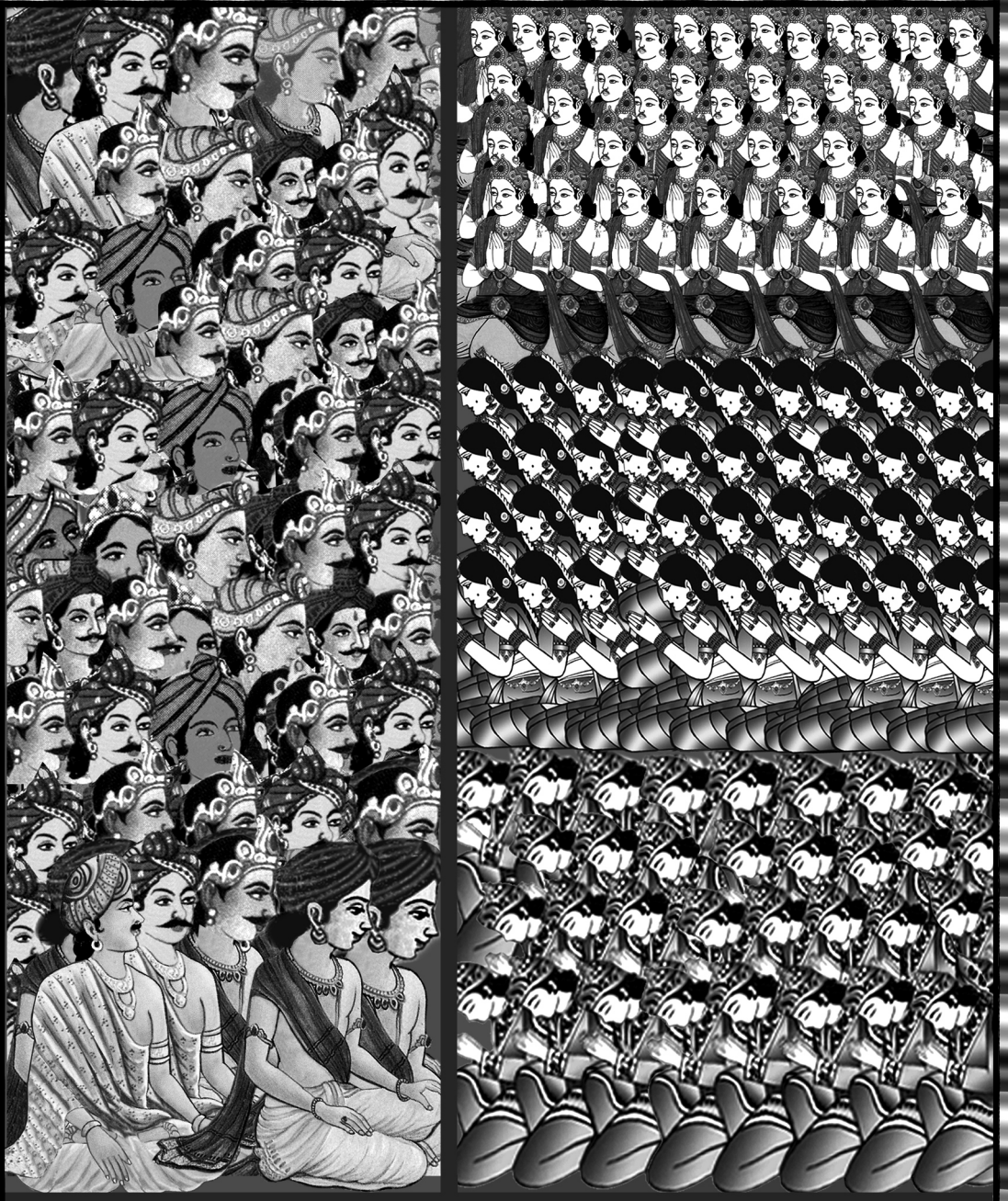

समभाव कर तिहुँ लोक के, जीवों से यों विनती करी—
'अहो ! जेते हैं सब जीव जग के, क्षमा हम पर कीजियो।
हम जैन दीक्षा लेत हैं, तुम वैर सब तज दीजियो।
सारे दीक्षार्थियों ने जगत के सब ही जीवों से क्षमा याचना की।

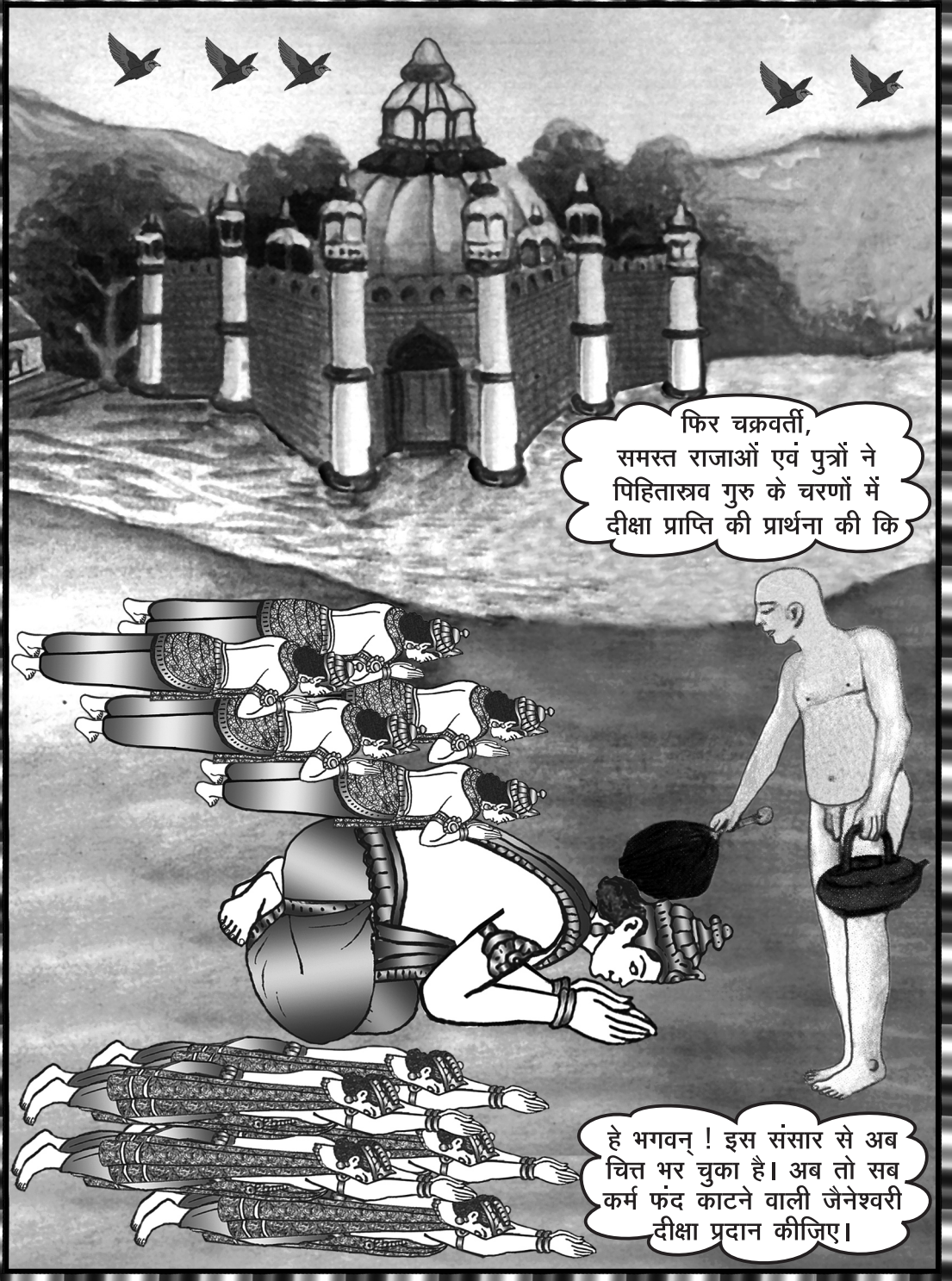
फिर चक्रवर्ती,
समस्त राजाओं एवं पुत्रों ने
पिहितास्त्रव गुरु के चरणों में
दीक्षा प्राप्ति की प्रार्थना की कि
हे भगवन् ! इस संसार से अब
चित्त भर चुका है। अब तो सब
कर्म फंद काटने वाली जैनेश्वरी
दीक्षा प्रदान कीजिए।

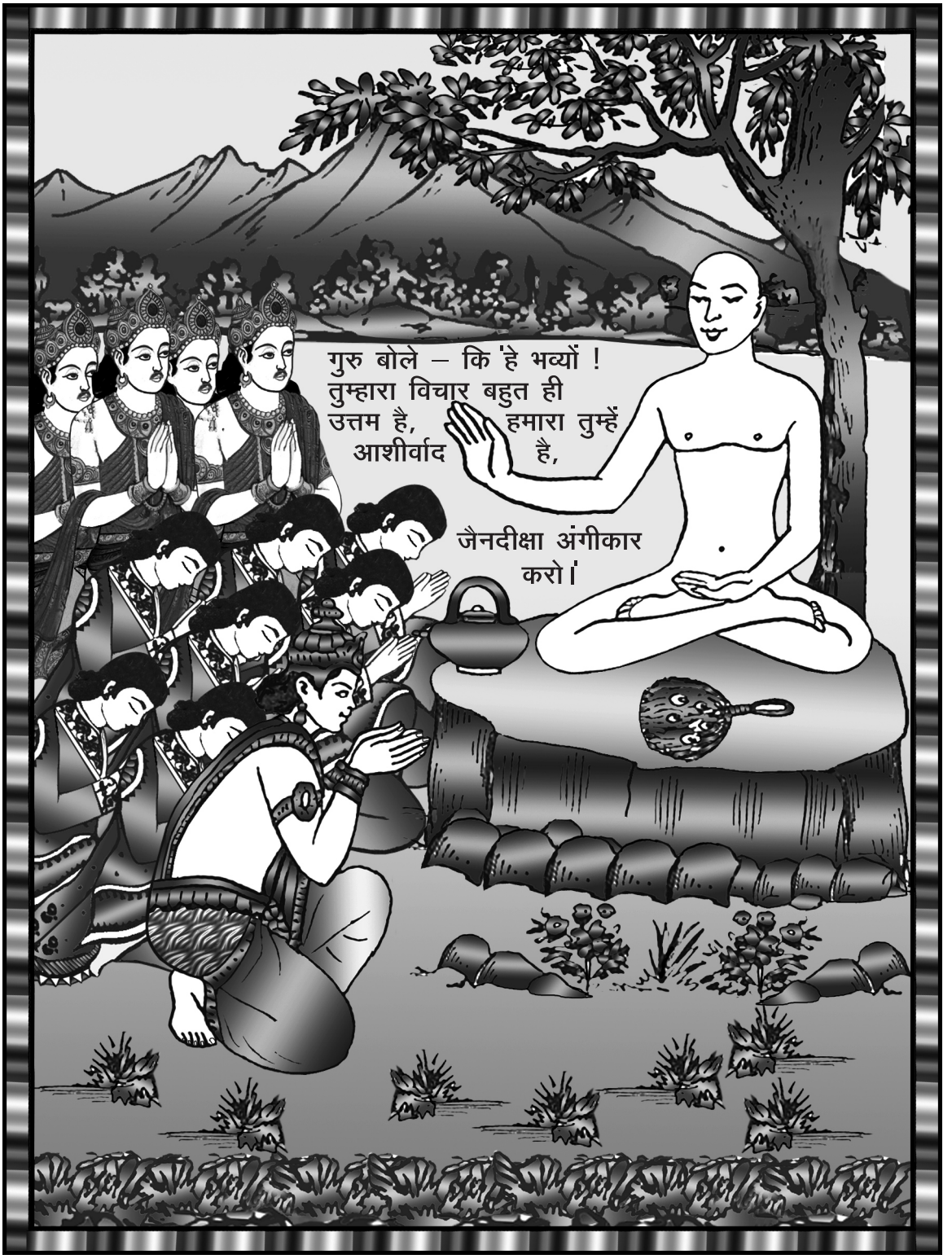
गुरु बोले – कि 'हे भव्यों !
तुम्हारा विचार बहुत ही
उत्तम है, हमारा तुम्हें
आशीर्वाद है,
जैनदीक्षा अंगीकार
करो।'

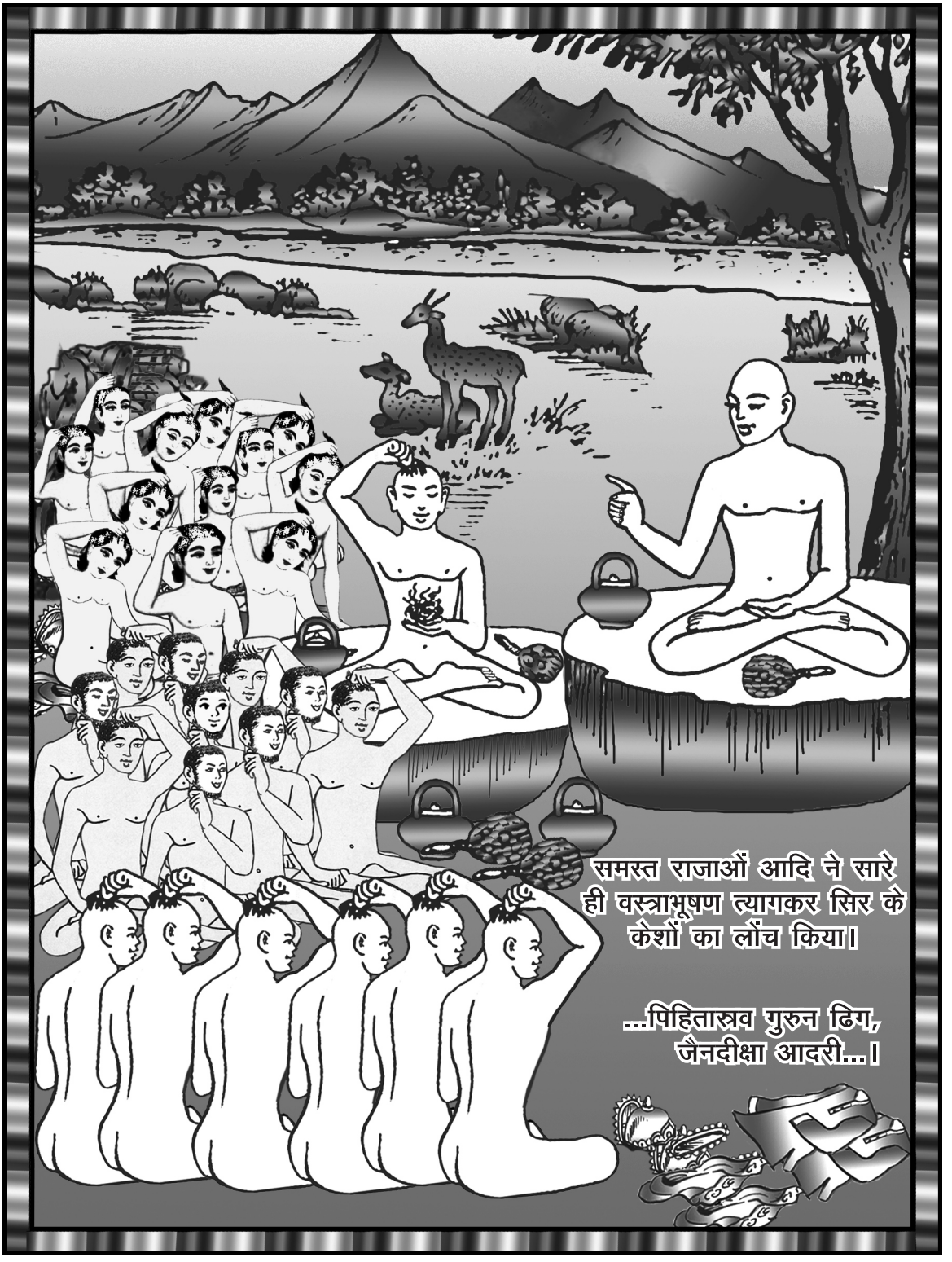
समस्त राजाओं आदि ने सारे ही वस्त्राभूषण त्यागकर सिर के केशों का लोंच किया।
...पिहितास्रव गुरुन ढिग, जैनदीक्षा आदरी...।

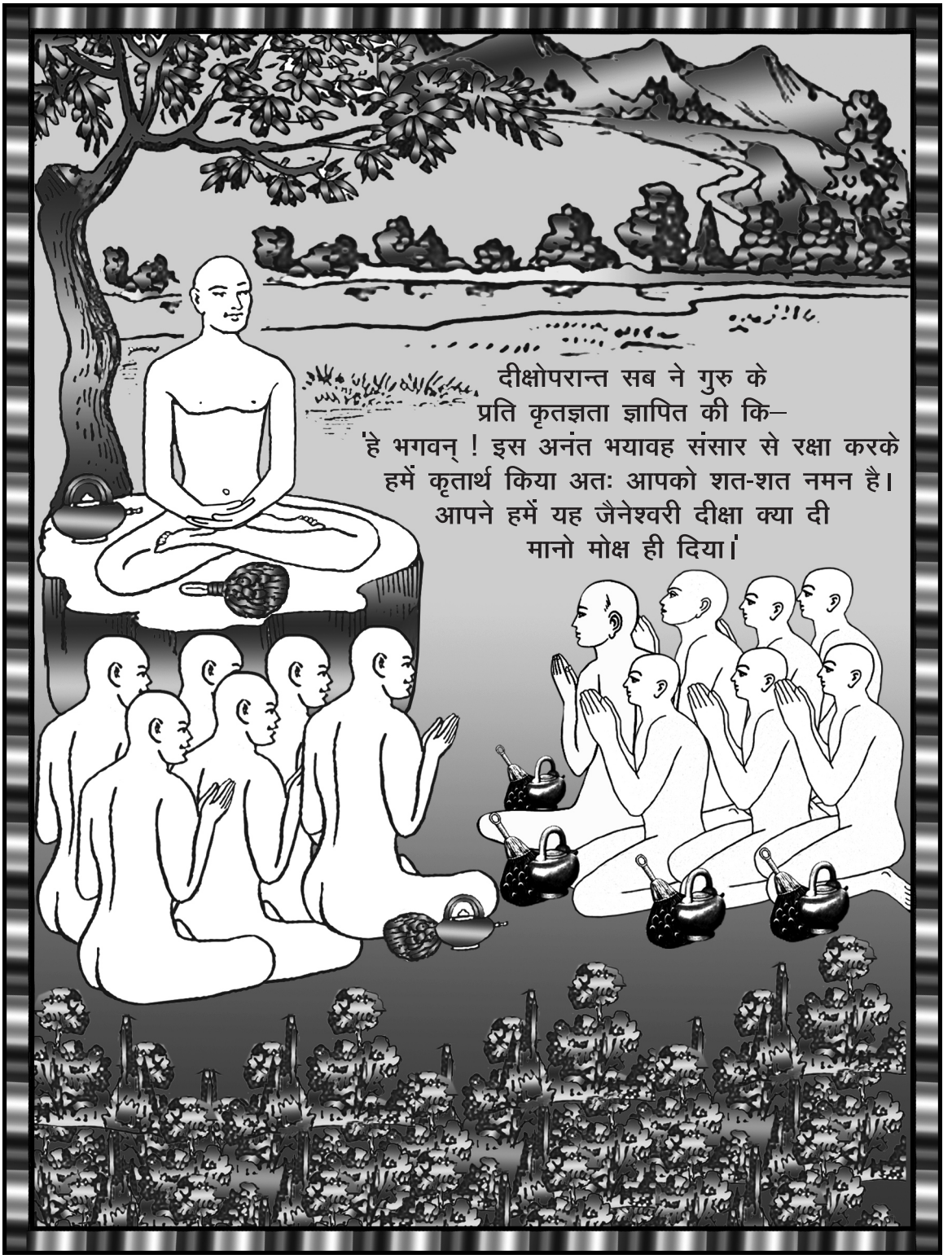
दीक्षोपरान्त सब ने गुरु के
प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की कि–
'हे भगवन् ! इस अनंत भयावह संसार से रक्षा करके
हमें कृतार्थ किया अतः आपको शत-शत नमन है।
आपने हमें यह जैनेश्वरी दीक्षा क्या दी
मानो मोक्ष ही दिया।'

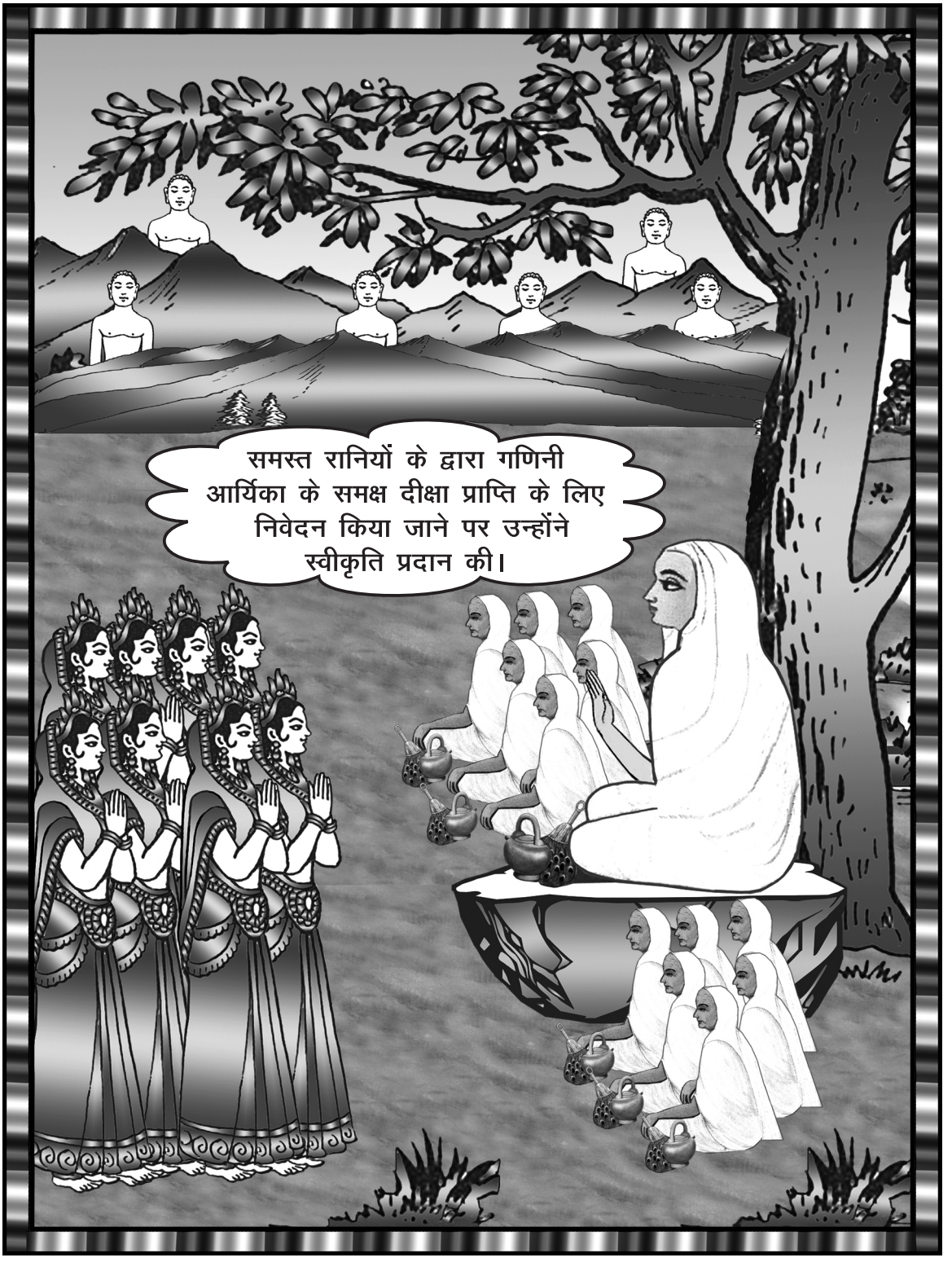
समस्त रानियों के द्वारा गणिनी आर्यिका के समक्ष दीक्षा प्राप्ति के लिए निवेदन किया जाने पर उन्होंने स्वीकृति प्रदान की।

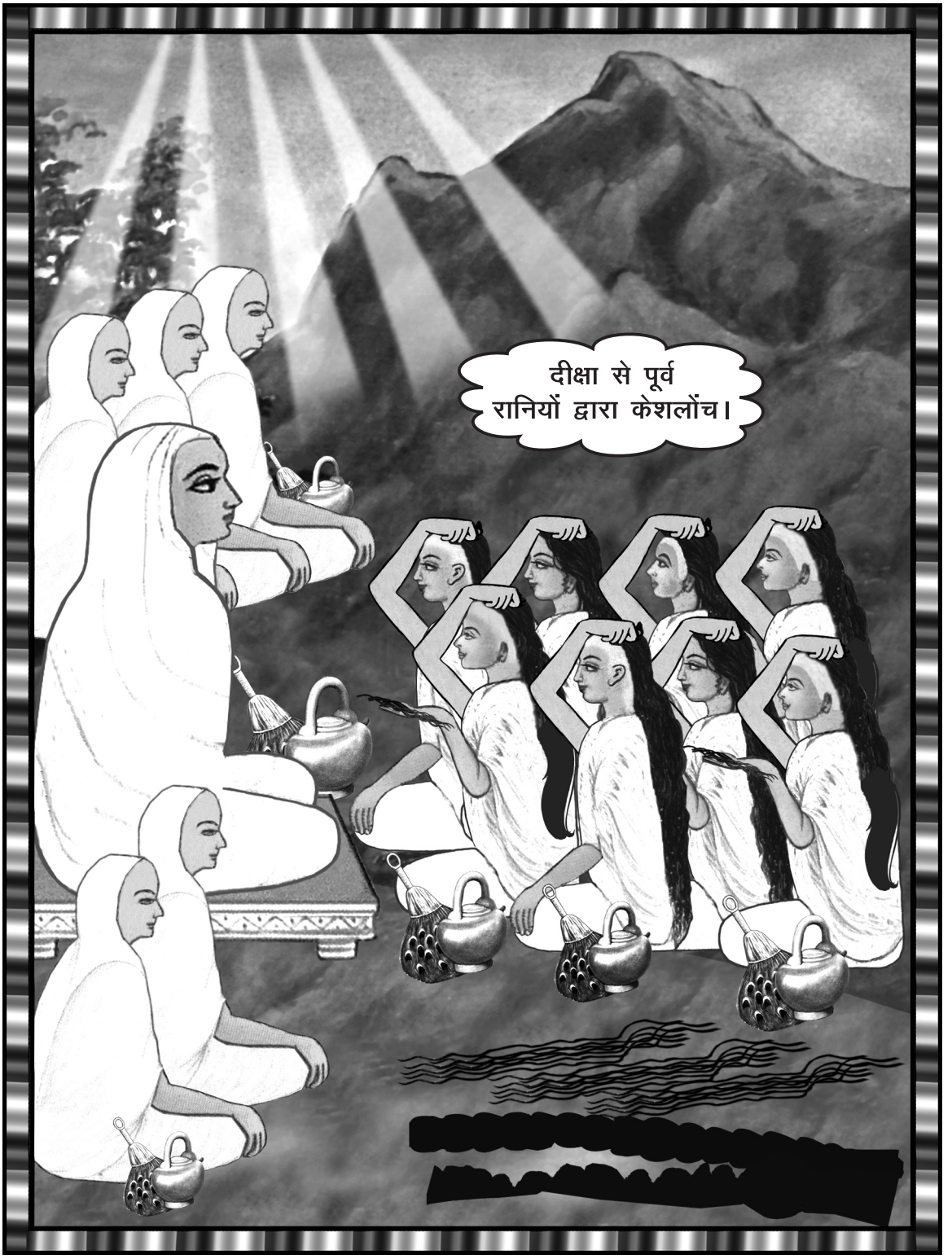
दीक्षा से पूर्व
रानियों द्वारा केशलोंच।

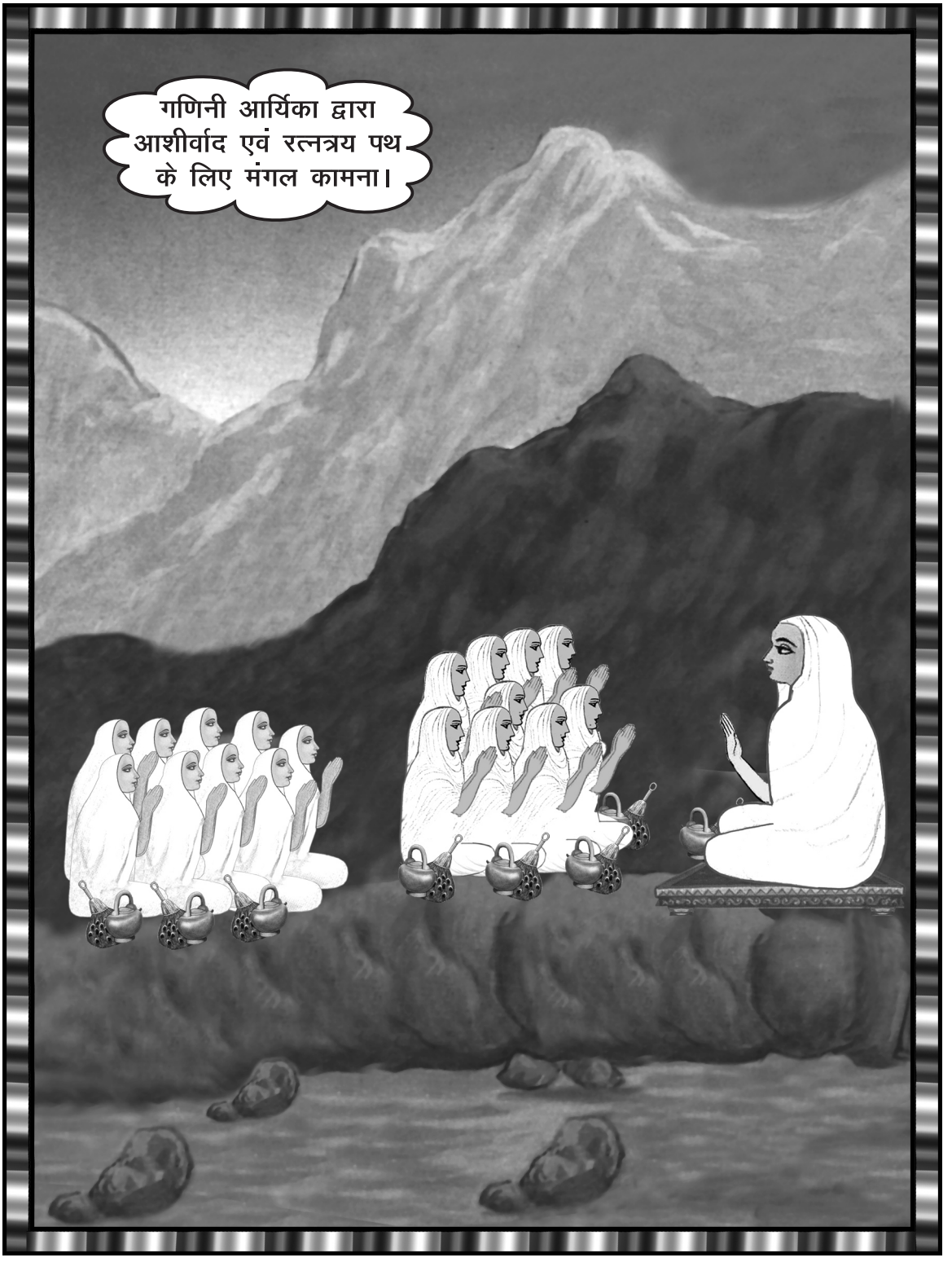
गणिनी आर्यिका द्वारा
आशीर्वाद एवं रत्नत्रय पथ
के लिए मंगल कामना।

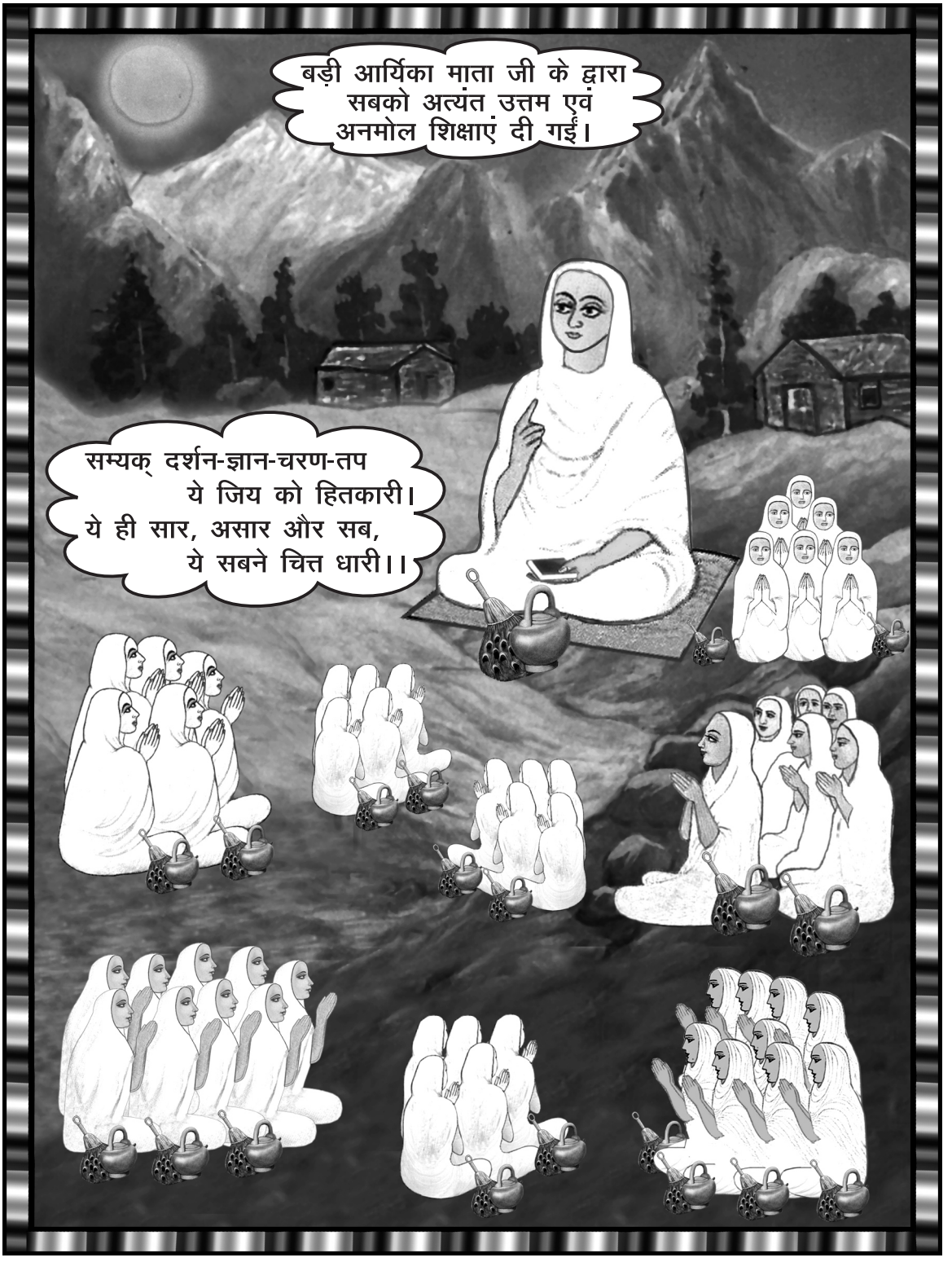
बड़ी आर्यिका माता जी के द्वारा
सबको अत्यंत उत्तम एवं
अनमोल शिक्षाएं दी गईं।
सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरण-तप
ये जिय को हितकारी।
ये ही सार, असार और सब,
ये सबने चित्त धारी।।

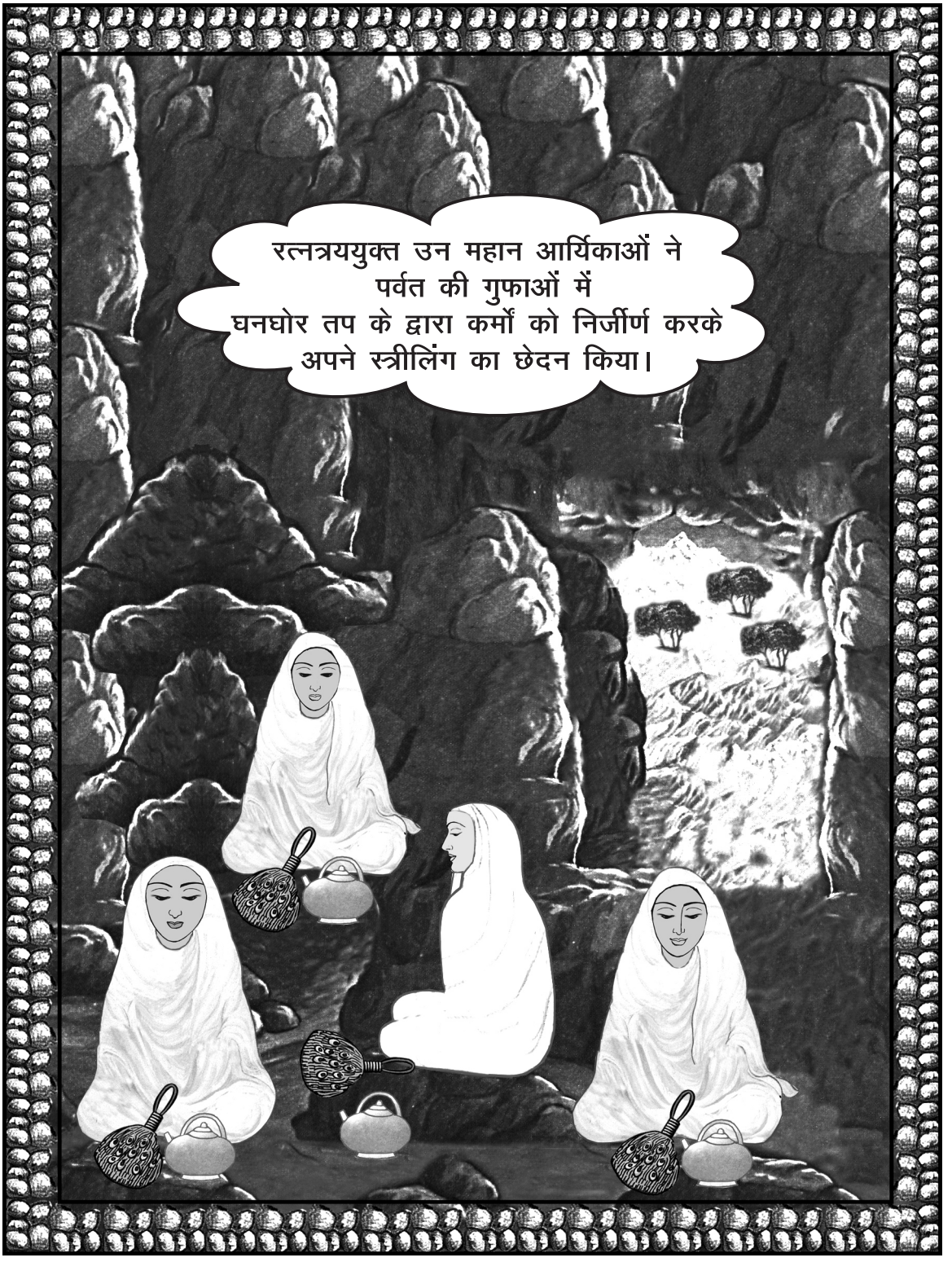
रत्नत्रययुक्त उन महान आर्यिकाओं ने
पर्वत की गुफाओं में
घनघोर तप के द्वारा कर्मों को निर्जीर्ण करके
अपने स्त्रीलिंग का छेदन किया।

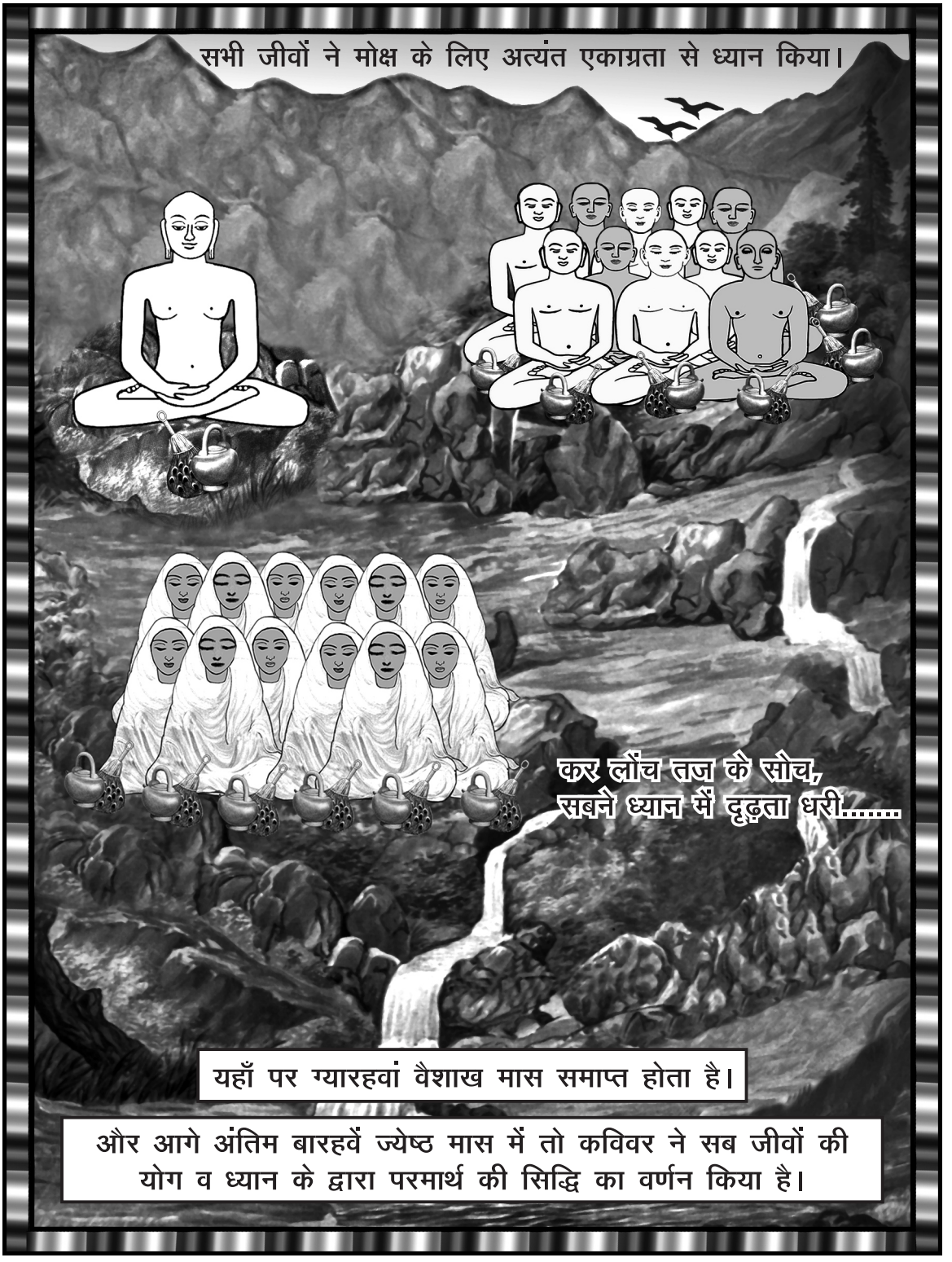
सभी जीवों ने मोक्ष के लिए अत्यंत एकाग्रता से ध्यान किया।
कर लोंच तज के सोच,
सबने ध्यान में दृढ़ता धरी.....
यहाँ पर ग्यारहवां वैशाख मास समाप्त होता है।
और आगे अंतिम बारहवें ज्येष्ठ मास में तो कविवर ने सब जीवों की योग व ध्यान के द्वारा परमार्थ की सिद्धि का वर्णन किया है।

गुरु पिहितास्त्रव का तप व शुक्ल ध्यान

जेठ मास लू ताती चले, सूखे सर कपिगण मद गले।
ग्रीषम काल शिखर के शीश, धरो अतापन योग मुनीश।
धर योग आतापन सुगुरु ने, शुक्ल ध्यान लगाइयो.....

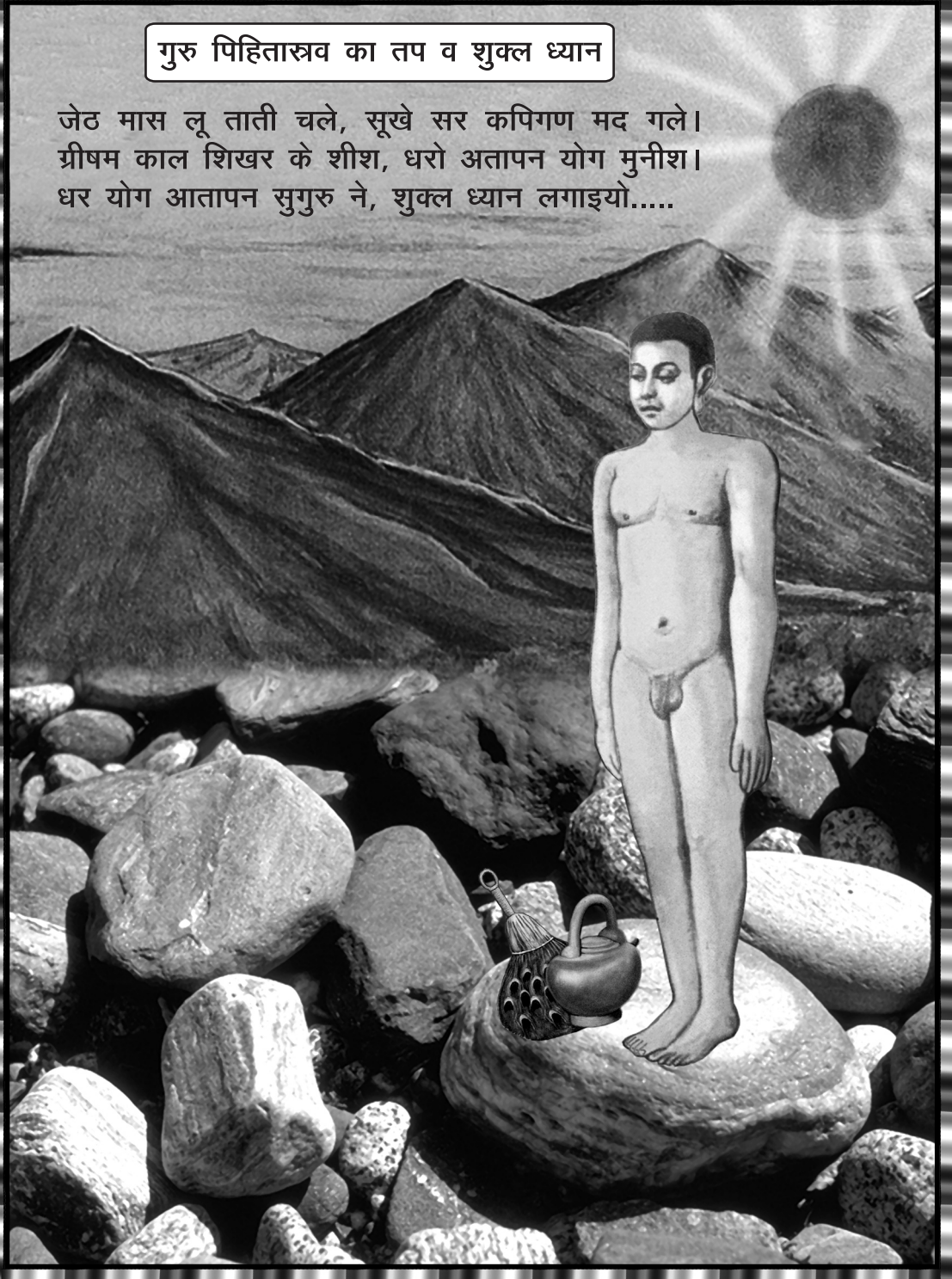

तिहुं लोक भानु समान केवलज्ञान तिन प्रगटाइयो.....

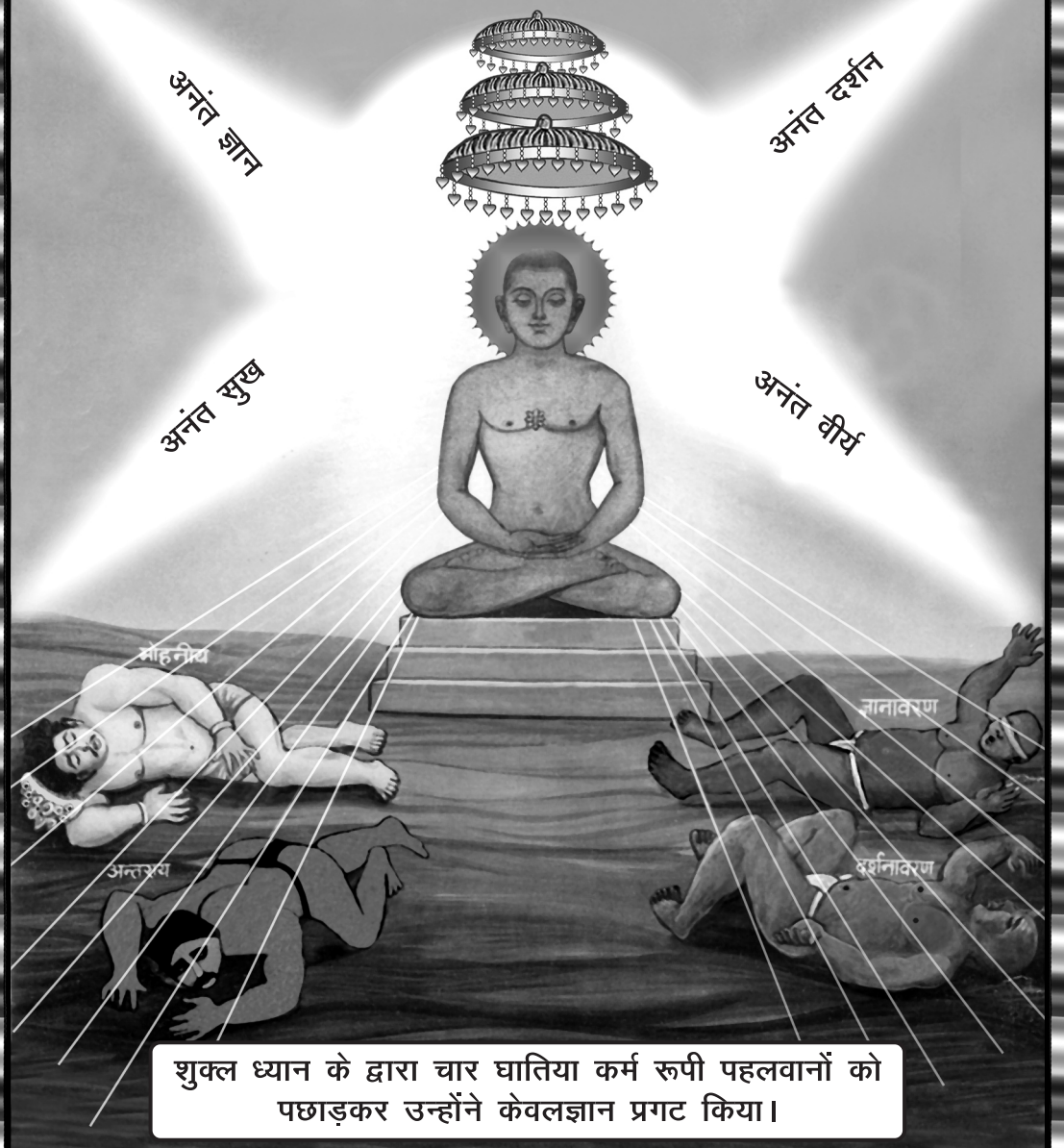

शुक्ल ध्यान के द्वारा चार घातिया कर्म रूपी पहलवानों को पछाड़कर उन्होंने केवलज्ञान प्रगट किया।

वज्रदन्त मुनीश भी काल लब्धि पाकर मोक्ष गये।

धनि वज्रदन्त मुनीश जग तज,कर्म के सन्मुख भये।
निज काज अरु परकाज करके, समय में शिवपुर गये।।
सम्यक्त्वादि सुगुण आधार। भये निरंजन निर आकार.....

आवागमन जलांजलि दई, सब जीवन की शुभगति भई।
भई शुभगति सबन की, जिन शरण जिनपति की लई।
पुरुषार्थ सिद्धि उपाय से परमार्थ की सिद्धि भई।।

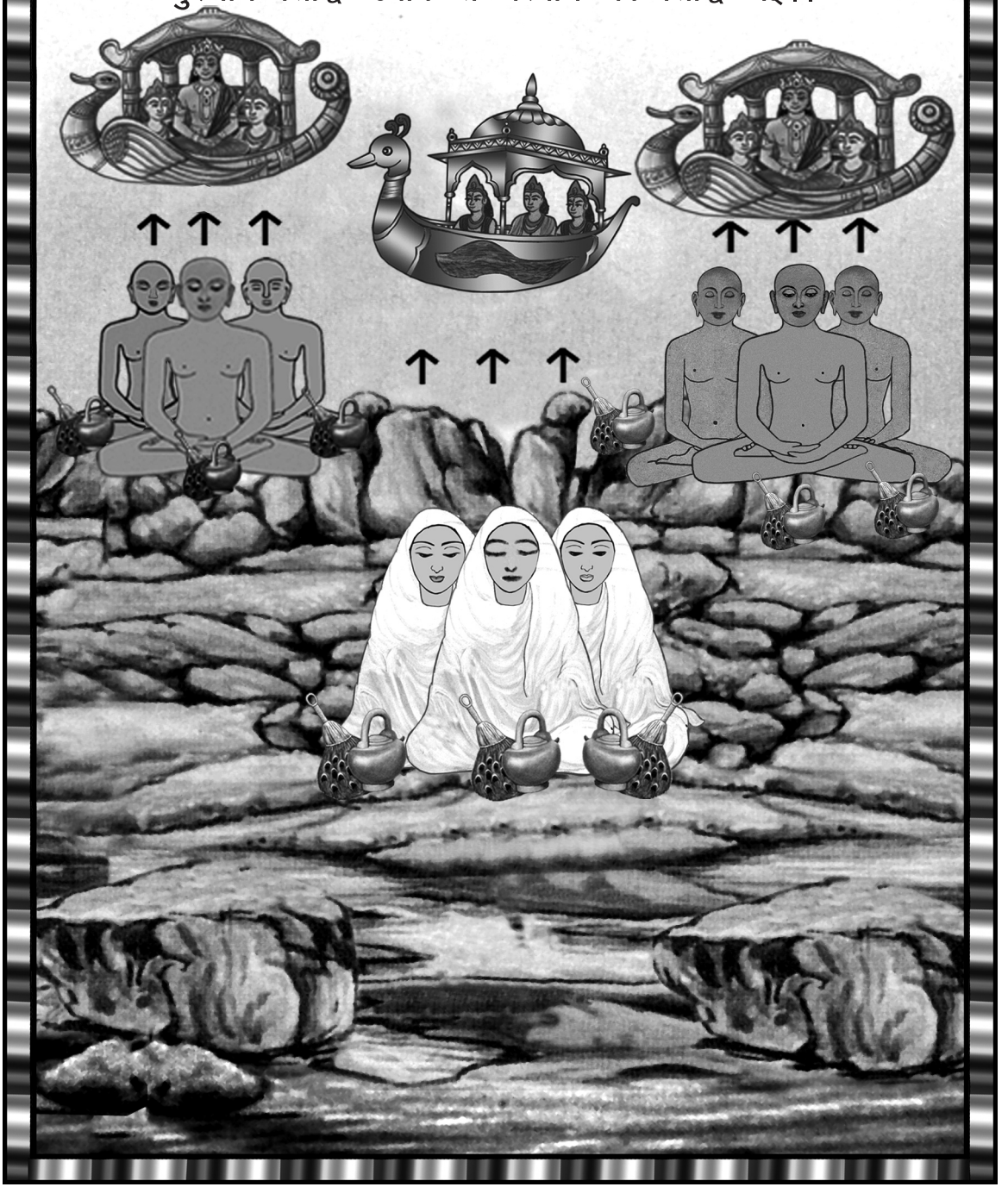

शेष सब ही तपस्वियों-राजाओं, रानियों व पुत्रों को आगे चलकर कालान्तर में अरहंत पद की प्राप्ति हुई।

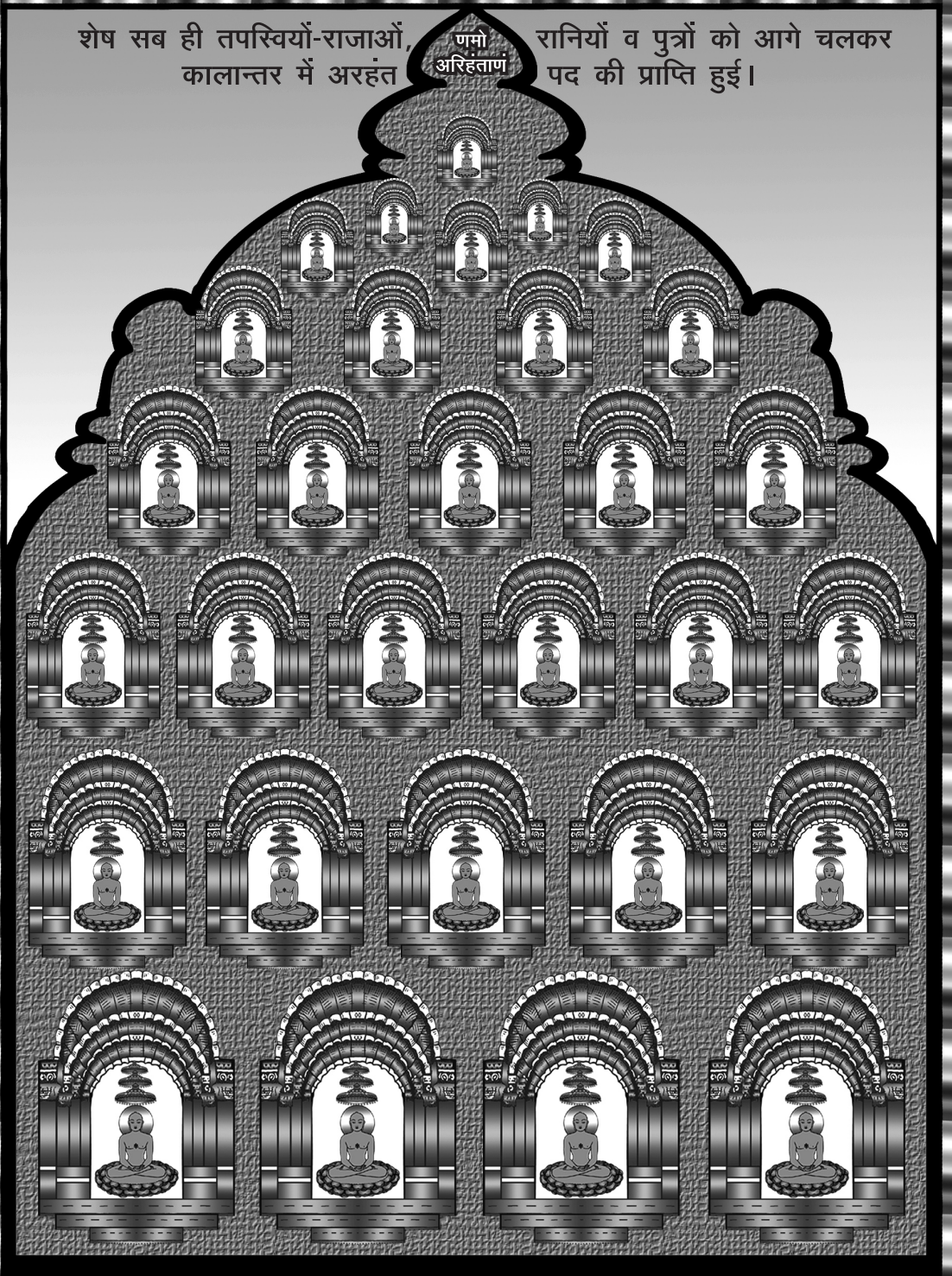

जो पढ़े बारह मास भावन, भाय चित्त हुलसाय के।
तिनके हों मंगल नित नये, अरु विघ्न जांय पलाय के।।

अंतिम दोहा

नित-नित नव मंगल बढ़ै, पढ़ैं जो यह गुणमाल।
सुर-नर के सुख भोगकर, पावैं मोक्ष रसाल।।

समाप्त